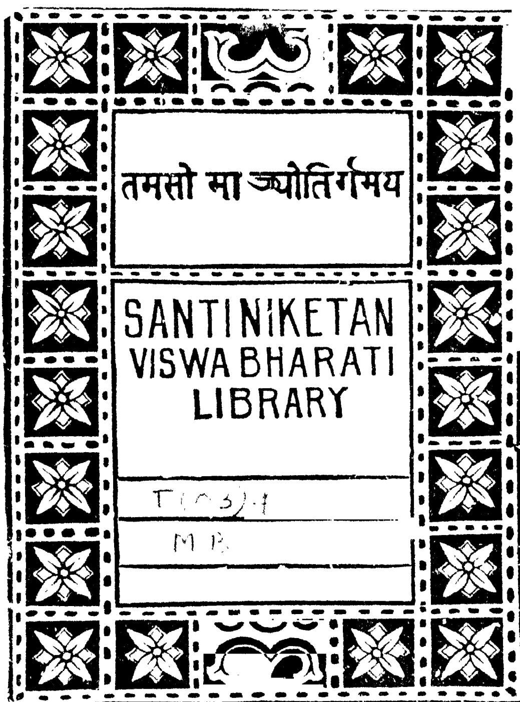

तमसो मा ज्योतिर्गमय
SANTINIKETAN
VISWA BHARATI
LIBRARY
M B

मेरा बचपन

मेरा बचपन

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा अनुवादित



विश्वभारती ग्रन्थागार

२, कालेज स्क्वायर, कलकत्ता

प्रकाशक—श्रीपुलिनविहारी सेन
विश्वभारती, ६-३, द्वारकानाथ ठाकुर लेन, कलकत्ता

प्रथम संस्करण
भाद्रपद, १६६८ वि०

मूल्य १।॥)

मुद्रक—प्रभातकुमार मुखोपाध्याय
शान्तिनिकेतन प्रेस, शान्तिनिकेतन, बीरभूम

भूमिका

गोसाईं जी के पास से बच्चों के लिये कुछ लिखने का अनुरोध आया। सोचा, बालक रवीन्द्रनाथ की कहानी ही लिखी जाय। उसी बीते हुए समय के प्रेत-लोक में घुसने की कोशिश की। आज के साथ उसके भीतर बाहर का माप मिलता नहीं। उन दिनों के प्रदीप में जितना उजेला था उससे कहीं अधिक अंधेरा था। बुद्धि के इलाके में उस समय वैज्ञानिक सर्वे शुरू नहीं हुई थी, संभव और असंभव की चौहद्दियां उस समय एक दूसरे में उलझी हुई थीं। उस समय का विवरण मैं ने जिस भाषा में लिखा है वह स्वभावतः ही सहज हुई है, बच्चों की ही भावना के अनुकूल। उमर के बढ़ने के साथ ही साथ बचपन का कल्पना-जाल जब मन से कुहासे की तरह दूर होने लागा उस समय का वर्णन करते समय भाषा तो नहीं बदली है लेकिन भाव खुद-ब-खुद बचपन को पीछे छोड़ गया है। इस विवरण को बचपन की सीमा को अतिक्रम नहीं करने दिया गया—किन्तु अन्त में जा

कर यह स्मृति किशोरावस्था के आमने-सामने आ पहुँची है। वहीं एक बार स्थिर भाव से खड़े होने पर देखा जा सकेगा कि किस प्रकार बालक की मनःप्रकृति अपने चारों ओर के विचित्र, आकस्मिक और अनिवार्य समवाय में से धीरे धीरे परिणत हुई है। सारे विवरण को बचपन नाम देने की विशेष सार्थकता यह है कि बच्चे की वृद्धि उस की प्राणशक्ति की वृद्धि है। जीवन के आदि पर्व में प्रधान रूप से उसी की गति का अनुसरण करना चाहिये। जो पोषक पदार्थ उसके प्राण के साथ स्वयं ही मिल गया है उसी को अपने चारों ओर से बालक आत्मसात् करता हुआ चलता आया है। प्रचलित शिक्षा-प्रणाली से मनुष्य बनाने की जो चेष्टा हुई है उसे उसने मामूली मात्रा में ही स्वीकार किया है।

इस पुस्तक के विषय-वस्तु का कुछ-कुछ अंश जीवन-स्मृति में मिलेगा। पर उसका स्वाद अलग है—इन दोनों का अन्तर सरोवर और झरने के अन्तर के समान है। वह है कहानी, यह है काकली ; वह टोकरी में दिखती है, यह पेड़ पर। फल के साथ चारों ओर की डाल-टहनी को मिला कर इसने प्रकाश पाया है। कुछ समय पहले एक कविता की पुस्तक में इसका कुछ-कुछ चेहरा दिखा था, किन्तु वह पद्य के फिल्म में था। पुस्तक का नाम है 'छड़ार छवि'—लोरियों का चित्र। उस में जो

बकवास थी उसमें से कुछ तो नाबालिग़ की थी और कुछ बालिग़ की। उस में आनंद का प्रकाश बहुत कुछ बचपन की मौज का ही था। इस पुस्तक का बालभाषित गद्य में है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

मेरा बचपन

१

मैंने जन्म लिया था पुराने कलकत्ते में। शहर में उन दिनों छकड़े छड़-छड़ करते हुए धूल उड़ाते दौड़ा करते और रस्सीवाले चाबुक घोड़ों की हड्डी-निकली पीठ पर सटासट पड़ा करते। न ट्राम थी, न बस और न मोटर गाड़ी। उन दिनों काम-काज की ऐसी दम फुला देनेवाली ठेलमठेल नहीं थी। इतमीनान से दिन कटा करते थे। बाबू लोग तम्बाकू का कश खींचकर पान चबाते-चबाते आफ़िस जाते—कोई पालकी में और कोई साझे की गाड़ी में। जो लोग पैसेवाले थे, उनकी गाड़ियों पर तमग़े लगे होते। चमड़े के आधे घूँघटवाले कोचबक्स पर कोचवान बैठा करता, जिसके सिरपर बांकी पगड़ी लहराती रहती थी। पीछे की ओर दो-दो सईस खड़े रहते, जिनकी कमरमें चँवर झूलते होते। स्त्रियों का बाहर आना-जाना बन्द दरवाज़े की पालकी के दम घुटा देनेवाले अंधेरे में हुआ करता। गाड़ी पर चढ़ना शर्म की बात थी। धूप और वर्षा में उनके सिर

पर छाता नहीं लग सकता था। किसीके बदन पर शमीज़ और पैर में जूता दिख गया, तो इसे मेम साहबी फैशन कहा जाता : मतलब यह होता कि इसने लाज-हया घोलकर पी ली है। कोई स्त्री यदि अचानक परपुरुष के सामने पड़ जाती, तो उसका घूँघट सटाक-से नाक की फुनगी को पार कर जाता और वह जीभ दाँतों-तले दबाकर झट पीठ फिरा देती। घर में जैसे उनका दरवाज़ा बन्द हुआ करता, वैसे ही बाहर निकलने की पालकी में भी। बड़े आदमियों की बहू-बेटियों की पालकी पर एक मोटे घटाटोप-सा पर्दा पड़ा रहता, जो देखने में चलते-फिरते कब्रगाह के समान लगता। साथ-साथ पीतल की गोपवाली लाठी लिये दरबानजी चला करते। इनका काम था दरवाज़े पर बैठकर घर अगोरना, गलमुच्छे सहलाना, बैंक में रुपये और रिश्तेदारी में स्त्रियों को पहुँचाना और त्यौहार के दिन बन्द पालकी-समेत मालकिन को गंगा में से डुबकी लगवा लाना। दरवाज़े पर फेरीवाले अपना सन्दूकचा सजाके आया करते, जिसमें शिवनन्दन का भी हिस्सा हुआ करता। और फिर भाड़ेवाली गाड़ी का गड़ीवान था, जो बाँट-बखरेके मामले में नाराज़ होता, तो ड्योढ़ी के सामने पूरा टंटा खड़ा कर देता। बीच-बीच में हमारा पहलवान जमादार शोभाराम बाँव कसता, वज़नदार मुग्दर घुमाता,

बैठा-बैठा भंग घोंटता और कभी-कभी बड़े आराम से पत्ता-समेत कच्ची मूली चबा जाता ; और हम लोग उसके कान के पास ज़ोर से चिल्ला उठते—'राधाकृष्ण'। वह जितना ही हाँ-हाँ करके हाथ-पैर पीटता, उतनी ही हमारी ज़िद बढ़ती जाती। इष्टदेवता का नाम सुनने की यह उसकी फंदी थी।

उन दिनों शहर में न तो गैस थी, न बिजली-बत्ती। बाद में जब मिट्टीके तेल का उजेला आया, तो हम उसका तेज देखकर हैरान हो रहे। साँझ को फरास आता और घर-घर रेंडीके तेल का दीया जला जाता। हमारे पढ़नेके घर में दो बातियों का एक दीया दीवटपर जला करता।

मास्टर साहब टिमटिमाते प्रकाश में प्यारी सरकार की फर्स्ट बुक पढ़ाया करते। मुझे पहले तो जम्हाई आती, फिर नींद ; और फिर आँख की मीजाई शुरू होती। बारबार सुनना पड़ता कि मास्टर साहब का कोई एक दूसरा विद्यार्थी सतीन लड़का क्या है, सोनेका टुकड़ा है। पढ़ाईमें ऐसा दिल लगाता है कि लोग अचरज करते हैं। नींद आती है, तो आँखों में सुर्ती की बुकनी रगड़ लेता है। और मैं? न कहना ही अच्छा है। सब लड़कों में अकेले मूर्ख होकर रहने के समान गंदी भावना भी मुझे होश में न ला पाती। रात नौ बजे जब आँखें नींदसे ढुलमुला जातीं, तो छुट्टी मिलती। बाहर के बैठकखानेसे

घरके भीतर जाने के सँकरे रास्तेपर झिलमिल (वेनेशियन ब्लिड) का पर्दा टँगा होता और ऊपर टिमटिमाते हुए प्रकाशकी लालटेन झूला करती। जब मैं उधरसे गुज़रता, तो दिल कहता रहता कि न जाने क्या पीछा कर रहा है। पीठ सनसना उठती। उन दिनों भूत-प्रेत किस्से कहानियो में रहा करते और आदमी के मन के कोने-कोने में विराजमान होते। कोई महरी अचानक चुड़ैल की नकियान सुनती और धड़ाम-से पछाड़ खाकर गिर पड़ती। यह भूतनी ही सबसे अधिक बदमिज़ाज थी। यह मछली पर ज्यादा चोट करती थी। घरके पश्चिमी कोने पर एक घने पत्तोंवाला बादामका पेड़ था। एक पैर इसकी डाल पर और दूसरा पैर तितल्ले के कार्निस पर रखकर कोई एक मूर्ति प्रायः ही खड़ी रहा करती—इसे देखा है, ऐसा कहनेवाले उन दिनों अनेक थे। विश्वास करनेवाले भी कम नहीं थे। बड़े दादा के एक मित्र जब इन गप्पों को हँसकर उड़ा देते तो नौकर-चाकर समझते कि इस आदमी को धरम-करम का ज्ञान एकदम है ही नहीं ; जब एक दिन गर्दन मरोड़ देगा, तो सारा ज्ञान बघारना निकल जायगा। आतंक ने उन दिनों चारों ओर अपना जाल ऐसा फैला रखा था कि मेज़ के नीचे पैर रखने से पैर सनसना उठते थे।

तब पानी का नल नहीं लगा था। माघ-फागुनके

महीनों में कहार काँवर भर-भरकर गंगासे पानी लाते थे। एकतल्ले के अँधेरे घर में बड़े-बड़े कुंडे रखे हुए थे। इन्हींमें साल भर के लिए पानी रखा रहता। उन सीड़भरी अँधेरी कोठरियों में जो लोग डेरा डाले हुए थे, कौन नहीं जानता कि वे मुँह बाये रहते थे, आँखें उनकी छाती पर हुआ करती थीं, दोनों कान सूप के समान होते थे और दोनों पैर उल्टी तरफ़ मुड़े हुए होते थे। मैं उस भुतही छाया के सामने से मकान के भीतर के बगीचे की ओर जाता, तो हृदय कि भीतर उथल-पुथल मच जाती, पैर में तेज़ी आ जाती।

उन दिनों रास्ते के किनारे-किनारे नाले बँधे हुए थे। ज्वार के समय उन्हीं से होकर गंगा का पानी आया करता। बाबा के ज़माने से ही उस नाले के पानी का हक़दार हमारा तालाब रहता आया था। जब किवाड़ खोल दिये जाते, तो झर-झर कल-कल करता हुआ पानी झरने के समान झरता और नीचे का हिस्सा फेन से भर जाता। मछलियों को उलटी तरफ़ तैरने की क़सरत दिखाने की सूझती। मैं दक्खिनके बरामदेकी रेलिंग पकड़कर अवाक् होकर देखा करता। आखिरकार उस तालाब का काल भी आ पहुँचा और उस में गाड़ियों में भर-भरकर गंदगी डाली जाने लगी। तालाब के पटते ही देहाती हरियाली की छायावाला वह आईना भी मानो

हट गया। वह बादामवाला पेड़ अब भी खड़ा है; लेकिन पैर फैलाकर खड़े होने की इतनी सुविधा होते हुए भी उस ब्रह्मदैत्य का पता अब नहीं चलता।

भीतर और बाहर प्रकाश बढ़ गया है।

२

पालकी दादी के जमाने की थी—काफ़ी लम्बी-चौड़ी, नवाबी क़ायदे की। दोनों डण्डे आठ-आठ कहारों के कन्धे की माप के थे। हाथों में सोने के कंगन, कानों में सोने के कुण्डल और शरीरपर लाल रंग की हथकट्टी मिरजई पहनने वाले वे कहार भी पुरानी धन-दौलत के साथ उसी तरह लोप हो गये, जैसे डूबते हुए सूर्य के साथ ही रंगीन बादल। पालकी के ऊपर रंगीन लकीरों के कटाव कटे हुए थे। इसके कुछ हिस्से घिस-घिसाकर नष्ट हो गये थे। जहाँ-तहाँ दाग लगे हुए थे और भीतर के गद्दे में से नारियलके भिरकुट बाहर निकल आये थे। यह मानो इस ज़माने का कोई नाम-कटा असबाब था, जो खज़ांचीखाने के एक कोने में डाल दिया गया था। मेरी उम्र इन दिनों सात-आठ साल की होगी। इस संसारके किसी ज़रूरी काममें मेरा कोई हाथ नहीं था और यह पुरानी पालकी भी सभी ज़रूरत के कामों से बरख़ास्त कर

दी गई थी। इसीलिए उसपर मेरे मन का इतना खिंचाव था। वह मानो समुद्र के बीच का एक छोटा-सा टापू थी और मैं छुट्टी के दिन का रॉबिन्सन क्रूसो, जो बन्द दरवाज़े में गुमराह होकर चारों ओर की नज़र बचाकर बैठा होता।

उन दिनों हमारा घर आदमियों से भरा था। कितने अपने, कितने पराये, कुछ ठीक नहीं। परिवार के अलग-अलग कई महकमों के दास-दासियों का शोर-गुल बराबर मचा रहता था।

सामने के आँगन से पियारी महरी काँख-तले टोकरी दबाये साग-भाजी का बाज़ार किये आ रही है। दुक्खन कहार कन्धे पर काँवर रखकर गंगा का पानी ले आ रहा है। ताँतिन नये फ़ैशन की पाढ़वाली साड़ी का सौदा करने घर के भीतर घुसी जा रही है। माहवारी मजूरी पानेवाला दीनू सुनार, जो पास की गली में बैठा-बैठा भाथी फसफसाया करता है और घर की फर्माइशें पूरी करता रहता है, खजांचीखाने में कान में पाँख की कलम खोंसे हुए कैलाश मुखुज्जे के पास अपने बकाया का दावा करने चला आ रहा है। आँगन में बैठा हुआ धुनिया पुरानी रजाई की रूई धुन रहा है। बाहर काने पहलवान के साथ मुकुन्दलाल दरबान लस्टम-पस्टम करता हुआ कुश्ती के दाँव-पेंच भर रहा है। चटाचट आवाज़ के

साथ दोनों पैरों में चपेटा मारता जा रहा है और बीस-पच्चीस बार लगातार डण्ड पेल लेता है। भिखारियों का दल अपने हिस्से की भीख के आसरे में बैठा हुआ है।

दिन चढ़ता जाता है, धूप कड़ी होती आती है, डेवढ़ी पर घण्टा बज उठता है। पर पालकी के भीतर का दिन घण्टे का हिसाब नहीं मानता। वहाँ का 'बारह बजे' वही पुराने ज़माने का है, जब राजभवन के सिंहद्वार पर सभा-भंग का डंका बजा करता, राजा चन्दन के जल से स्नान करने उठ जाते। छुट्टी के दिन दोपहरी को मैं जिनकी देख-रेख में हूँ, वे सभी खा पी कर सो रहे हैं। अकेला बैठा हूँ। चलने का रास्ता मेरी ही मर्ज़ीपर निकाला गया है। उसी रास्ते मेरी पालकी दूर-दूर के देश-देशान्तर को चली है। उन देशों के नाम मैंने ही अपनी किताबी विद्या के अनुसार गढ़ लिये हैं। कभी कभी रास्ता घने जंगल के भीतर घुस जाता है, (जहाँ) बाघ की आँखें चमक रही हैं। शरीर सनसना रहा है। साथ में विश्वनाथ शिकारी है। वह उसकी बन्दूक धाँयसे छूटी। बस, सब चुप। इसके बाद एक बार पालकी का चेहरा बदल गया। वह बन गई मोरपंखी बजरा, बह चली समुद्र में। किनारा दिखाई नहीं देता। डाँड़ पानी में गिर रहे हैं—छप्-छप् छप्-छप्। लहरें उठ रही हैं—हिलती-डुलती, फूलती-फुफुकारती। मल्लाह

चिल्ला उठते हैं—सम्हालो, सम्हालो, आँधी आई। पतवार के पास अब्दुल माझी बैठा है—नुकीली दाढ़ी, सफाचट मूछें, घुटी चाँद। इसे मैं पहचानता हूँ। वह दादा के लिए पद्मा में से मछली ले आ देता है और ले आता है कछुए के अण्डे।

उसने मुझे एक कहानी सुनाई थी। एक दिन चैत के महीने के अन्त में जब कि वह डोंगी से मछली मारने गया था, अचानक कालबैशाखी की आँधी आ गई।

भयंकर तूफान। नाव अब डूबी, अब डूबी। अब्दुल ने दाँतसे रस्सी पकड़ी और कूद पड़ा पानी में। तैरकर रेती पर आ खड़ा हुआ और रस्सी से खींचकर अपनी डोंगी निकाल लाया।

कहानी इतनी जल्दी ख़तम हो गई, यह मुझे अच्छा नहीं लगा। नाव डूबी नहीं, यों ही बच गई, यह तो कोई कहानी ही नहीं हुई। बार-बार पूछने लगा, फिर क्या हुआ? उसने कहा—फिर तो एक नया टण्टा खड़ा हो गया। क्या देखता हूँ कि एक लकड़बग्घा है। ये बड़ी-बड़ी उसकी मूँछें है। आँधी के समय उस पार के गंजघाटवाले पाकड़ के पेड़ पर चढ़ गया था। इधर आँधी का एक झोंका लगा, उधर सारा पेड़ पद्मा नदी में आ गिरा। और बाघराम बह चले पानी की धार में। पानी पीते-पीते उसका दम फूल गया था। वह उसी

रेतीपर आ खड़ा हुआ। उसे देखते ही मैंने अपनी रस्सी में फसरी लगाई। वह पट्ठा भी बड़ी-बड़ी डरावनी आँखे लाल किये हुए ठीक मेरे सामने आ खड़ा हुआ। तैरने से उसे भूख लग आई थी। मुझे देखते ही उसकी लाल लाल जीभसे लार टपकने लगी। बाहरके और भीतरके बहुतेरों से उसकी जान पहचान हो गई है; पर बच्चा अब्दुल को नहीं पहचानते। मैंने ललकारा, आ जाओ बच्चाराम। इधर वह दोनों पैरों पर खड़ा होता है, उधर मैंने गले में फँसरी डाल दी। छुड़ाने के लिए बच्चू जितने ही छटपटाते हैं, उतनी ही फसरी कसती जाती है। अन्त में जीभ निकल आई। यहीं तक सुनकर मैं हड़बाड़ाकर बोल उठा—अब्दुल, वह मर गया क्या? अब्दुल बोला—मरेगा कैसे? उसके बाप की मजाल है! नदी में बाढ़ आई है। बहादुरगंज तक तो लौटना है न? डोंगी में बाँधकर इस बाघ के पट्ठे से कम-से-कम बीस कोस रास्ता खिचवाया। गों-गों करता रहता था और मैं ऊपरसे पेट में डाँड़ से खोंचता रहता था। दस-पन्द्रह घंटे का रास्ता डेढ़ घंटे में पहुँचा दिया। इसके बादकी बात अब मत पूछो लल्ला, जवाब नहीं मिलेगा। मैंने कहा, बहुत अच्छा। बाघ तो हुआ, अब घड़ियाल की कहो। अब्दुल ने कहा—पानी के ऊपर उसकी नाक की फुनगी मैंने कई बार देखी है। नदी के

ढालुए किनारे पर जब वह पैर फैलाकर सोया हुआ धूप तापता रहता है, तो जान पड़ता है कि बड़ी बुरी हँसी हँस रहा है। बन्दूक़ होती, तो मुक़ाबला किया जाता। लाइसेंस खत्म हो गया है।

लेकिन एक मज़ेदार बात हुई। काँची बेदनी तीर पर बैठी दाव से बत्ता छील रही थी उसका मेमना पास ही बँधा था। न जाने कब एक घड़ियाल नदी से बाहर निकला और मेमने की टाँग पकड़कर उसे पानी में घसीट ले गया। बेदनी झट कूदकर उसकी पीठ पर सवार हो गई। दाव से उस गिरगिट-दैत्य (घड़ियाल) के गले पर लगी छेंव मारने। और मेमने को छोड़कर वह जन्तु पानी में डूब गया। मैंने व्यस्त होकर पूछा, फिर क्या हुआ? अब्दुल ने कहा, उसके बाद की ख़बर तो पानी में ही डूब गई। निकालकर बाहर ले आने में देर लगेगी। दूसरी बार जब भेंट होगी, तो चर भेजकर उसकी तलाश कराऊँगा। लेकिन वह फिर लौटा नहीं। शायद तलाश करने गया है।

यह तो थी पालकी के भीतर मेरी यात्रा। पालकी के बाहर मेरी मास्टरी चलती। सारे रेलिंग मेरे विद्यार्थी थे। मारे डर के चुप रहा करते। एकाध बड़े शरारती थे। पढ़ने-लिखने में बिल्कुल मन नहीं लगाते थे। उन्हें मैं डर दिखाया करता कि बड़े होने पर कुली का काम

करना पड़ेगा। मार खाते-खाते इनके शरीर में नीचे से ऊपर तक दाग़ निकल आये थे, फिर भी इनकी शरारत जाती नहीं थी, क्योंकि यदि इनकी शरारत रुक जाती तो काम कैसे चलता, खेल ही ख़त्म हो जाता। काठ के एक सिंह को लेकर एक और खेल भी था। पूजा में बलिदान की कहानी सुनकर सोचा था सिंह को बलि देने पर एक भारी बावेला खड़ा हो जायगा। उसकी पीठपर लकड़ी से कई झटके मारे। मन्तर बना लेना पड़ा था नहीं तो पूजा ही न हो पाती :—

सिंगि (सिंह) मामा काटुम
आन्दिबोसेर बाटुम
उलकुट् ढुलकुट् ढैमकुड़ुकुड़्
आखरोट बाखरोट खट-खट खटास
पटपट पटास।

इस में प्रायः सभी शब्द उधार के थे। केवल 'आखरोट' (=अखरोट) मेरा अपना है। अखरोट मुझे बहुत पसंद थे। खटास शब्द से जान पड़ेगा कि मेरा खड्ग काठ का था और पटास शब्द बता देता है कि वह मजबूत नहीं था।

३

कल रात से ही बादलों ने कुछ उठा नहीं रखा है ; पानी बरसता ही जा रहा है। पेड़ बेवकूफ़ की तरह जबदे खड़े हैं। चिड़ियों की आवाज़ बन्द है। आज याद आ रही है अपने बचपन की साँझ।

उन दिनों हमारा यह समय नौकरों के साथ बीतता। तब भी अंग्रेज़ी शब्दों के हिज्जे और माने याद करने की छाती धड़कनेवाली साँझ हमारी गर्दन पर सवार नहीं हुई थी। सँझले दादा कहा करते थे कि पहले बंगला भाषा की कुटाई हो लेनी चाहिए, तब फिर उसके ऊपर अंग्रेज़ी भाषा की नींव दी जा सकती है। इसीलिए उस समय जब टोले-मुहल्ले के हमारी उमर के और पढ़ाक लड़के धड़ाधड़ घोख जाते I am up मैं हूँ ऊपर, He is down वह है नीचे, तब तक मेरी विद्या बी-ए-डी बैड, एम-ए-डी मैड तक भी नहीं पहुँची थी।

नवाबी ज़बान में उन दिनों नौकर-चाकरों के हिस्से के मकान को तोशाखाना कहा जाता था। यद्यपि पुरानी अमीरी से हमारा मकान बहुत नीचे उतर आया था, फिर भी तोशाखाना, दफ्तरखाना, बैठकखाना—ये सब नाम दीवार से चिमटे हुए पड़े थे।

इसी तोशाखाने के दक्षिणी हिस्से के एक घरमें काँचकी दीवटपर रेंड़ीके तेलका एक दिया टिमटिमा रहा है। दीवार पर गणेश–मार्का तस्वीर और काली मैया का पट लगा हुआ है। पास ही छिपकली कीड़ों के शिकार में मशगूल है। घर में और कोई सामान नहीं है। फर्शपर एक मैली चटाई बिछी हुई है।

यहाँ बता रखूँ कि हमारी चाल–ढाल ग़रीबों–जैसी थी। गाड़ी–घोड़े की कोई बला नाममात्र को ही थी। बाहर कोने की ओर इमली के पेड़ के नीचे फूस के घर में एक बग्घी और एक बूढ़ा घोड़ा बँधा रहता था। पहनने के कपड़े निहायत सादे होते थे। पैर में मोजा लगाने की नौबत बहुत देर के बाद आई थी। जब ब्रजेश्वर के चिट्ठे को लाँघकर जलपान में पावरोटी और केले के पत्ते में लपेटा हुआ मक्खन नसीब हुआ, तो ऐसा लगा, मानो आसमान हाथकी पहुँच के भीतर आ गया हो। पुराने जमाने की बड़े आदमीयत को सहज ही मान लेने की तालीम चल रही थी।

हमारी इस चटाई-बिछी महफिल का जो सर्दार था, उसका नाम था ब्रजेश्वर। सिर और मूँछों के बाल गंगा-जमुनी, मुँह के ऊपर झूलती हुई सूखी झुरियाँ, गम्भीर मिज़ाज,कड़ा गला,चबा चबा कर बोली हुई बातें। उसके पुराने मालिक लक्ष्मीकान्त नामी-गरामी रईस थे।

वहाँ से उसे उतरना पड़ा था—हमारे-जैसे उपेक्षामें पले लड़कों की निगरानी के काम में। सुना था, गांव की पाठशाल में वह गुरुगीरी का काम कर चुका था। वह गुरुआनी चाल और बोली उसके पास अन्त तक बनी रही। "बाबू लोग बैठे हैं"—ऐसा न कहकर वह कहता—"प्रतीक्षा कर रहे हैं।" सुनकर मालिक लोग आपस में हँसा करते। जैसा ही उसका गुमान था, वैसी ही पवित्रता की बाई भी थी। स्नान के समय जब तालाब में उतरता, तो ऊपर के पानीको, जिस में तेल उतराता रहता था, पाँच-सात बार ठेलता और फिर धप्प-से डुबकी लगा लेता। स्नान के बाद ब्रजेश्वर इस प्रकार हाथ सिकोड़कर चलता, मानो किसी प्रकार विधाता की इस गन्दी धरती से बचकर चलने से ही उसकी जाति बच सकेगी। चाल-चलनमें कौन-सी बात अच्छी है, कौन-सी बुरी, इसे वह एक ख़ास लहजे में ज़ोर देकर कहा करता। इधर उसकी गर्दन भी कुछ टेढ़ी थी, इससे उसकी बात की इज्ज़त भी बढ़ जाती। किन्तु इन सारी बातों के होते हुए भी उसकी गुरुगीरी में एक दोष भी था। भीतर ही भीतर उसके मनमें भोजन का लोभ दबा हुआ था। हमारी थालियों में पहले से ही अच्छी तरह सब के हिस्से का खाना परोस रखने की उसकी आदत न थी। जब हम खाने बैठते, तो एक-एक पूड़ी अलग से ही हाथमें

झुलाता हुआ पूछता—और दूँ ? कौन-सा जवाब उसके मन माफिक है, यह बात उसके गले की आवाज़ से भली-भाँति समझ में आ जाती थी। अक्सर मैं यही जबाव देता कि कुछ नहीं चाहिए। फिर इसके बाद वह कोई आग्रह न करता। दूध के कटोरे पर भी उसका खिचाव उसकी सम्हाल के बाहर था। उसके घर में एक छोटी शेल्फवाली आलमारी थी। उसमें पीतल के कटोरे में दूध और काठ के कठौते में पूड़ी-तरकारी रखी होती। बिल्ली का लोभ जाली के बाहर की हवा सूँघ-सूघकर चक्कर मारा करता।

इसी तरह थोड़ा खाना मुझे बचपन से ही बड़े मजे में बर्दाश्त हो गया। कैसे कहूँ, इस कमखूराकी से मैं कमज़ोर हो गया था। जो लड़के खाने में कसर नहीं रखते थे उनकी तुलनामें मेरे शरीर में जोर कुछ ज्यादा ही था, कम तो हर्गिज नहीं। शरीर इस बुरी तरह से तन्दुरुस्त था कि स्कूल से भागने का इरादा जब हैरान करने लगता, तो शरीर पर तरह-तरहके जुल्म करके भी उस में बीमारी नहीं पैदा कर पाता। पानी में भिगोया हुआ जूता पहनकर दिन भर घूमता रहा, सर्दी नहीं हुई। कातिक के महीने में खुली छत पर सोया किया, कुर्ता और बाल भीग गये; लेकिन गले में ज़रा-सी खुस-खुसाहटवाली खाँसी का टेर भी नहीं पाया गया। और

पेट में दर्द नामक भीतरी बदहजमी की जो सूचना मिला करती है, उसे मैंने कभी पेट में अनुभव ही नहीं किया, सिर्फ जरूरत के समय माँ को मुँह से कहकर बता दिया है। सुनकर माँ मन ही मन हँसतीं। जरा भी चिन्ता करती हों, ऐसा कभी नहीं जान पड़ा। तो भी नौकर को बुलाकर कहतीं—जा, मास्टर से कह दे कि आज पढ़ाने की जरूरत नहीं। हमारी उस जमाने की माँ सोचतीं : लड़का अगर बीच-बीच में पढ़ाई में थोड़ी कोताही कर ले, तो इससे ऐसा क्या नुकसान हुआ जाता है। आजकल की माँ के हाथ पड़ता, तो मास्टर के पास तो जाना ही पड़ता, ऊपर से कान भी मल दिया जाता। शायद जरा हँसकर (आधुनिक माँ) कास्टर आयल भी पिला देतीं। बीमारी हमेशाके लिए दूर हो जाती। दैवयोग से यदि मुझे कभी ज्वर आ भी जाता, तो कोई उसे ज्वर या बुखार कहता ही नहीं! कहता—शरीर गरम हुआ है। नीलमाधव डाक्टर आते, थर्मामीटर तो उन दिनों आँखो से देखा भी न था। डाक्टर जरा शरीर पर हाथ रखकर ही पहले दिन तो कास्टर आयल और उपवासकी व्यवस्था करते। पानी बहुत थोड़ा पीने को मिलता ; जो मिलता, वह भी गर्म। उसके साथ इलायची के दाने चल सकते थे। तीन दीन के बाद ही मौरला मछली का शोरवा और

ख़ूब गला हुआ भात उपवास के बाद अमृत जैसा लगता।

बुख़ार में पड़ा रहना किसे कहते हैं, याद नहीं आता। मलेरिया शब्द सुना ही नहीं था। वह तेल उल्टी कराने वाली दवाओं का राजा था; किन्तु कुनाइन की याद नहीं आती। फोड़ा चीरनेवाली छुरी की खरोंच शरीर पर किसी दिन भी अनुभव नहीं की। माता या गोटी निकलना किसे कहते हैं, आज तक नहीं जान सका। शरीर में उबा देनेवाली एक ही जैसी तन्दुरुस्ती बराबर बनी रही। माताएँ यदि अपने बच्चों के शरीर को इतना नीरोग बनाना चाहती हों कि वह मास्टर के हाथसे बचने का मौक़ा न पा सके, तो उन्हें ब्रजेश्वर के समान नौकर खोजना चाहिए। खानेके ख़र्च के साथ ही साथ वह डाक्टर का ख़र्च भी बचायगा—विशेषकर इन दिनों, जब कल के आटे का और घासलेटी घी का प्रचार बढ़ा हुआ है। एक बात याद रखने की है। उन दिनों बाजार में चाकलेट नहीं दिखाई दिया था। मिलती थीं एक पैसे दामवाली गुलाबी रेवड़ियाँ। गुलाबी ख़ुशबू से बसे हुए ये तिल से ढके चीनी के ढेले आज भी लड़कों की जेब चटचटा देते हैं कि नहीं, पता नहीं। ये (रेवड़ियाँ) निश्चय ही आजकल के मानी लोगों के घरों से मारे शर्मके भाग खड़ी हुई हैं। वे भुने मसालेवाले

ठोंगे आज कहाँ चले गये ? और वह सस्ते दामों का तिलवाला गजा ? वह क्या अब भी टिका हुआ है ? न टिका हो, तो फिरा लाने की कोई ज़रूरत नहीं ।

ब्रजेश्वर के पास प्रतिदिन बैठकर मैंने कृत्तिवास का सातों काण्ड रामायण सुना है। उसी पाठ के सिलसिले में बीच में किशोरी चाटुज्जे आ जाता। उसे सारे रामायण की 'पाँचाली'* सुर-समेत याद थी। वह अचानक आसन दखल कर लेता और कृत्तिवास को तोप कर हड़हड़ाते हुए अपनी पाँचाली का पाठ सुना जाता--'ओरे रे लक्खन, ए कि अलक्खन, विपद घटेछे बिलक्खन।' उसके मुँह पर हँसी और माथे पर गंजी चाँद चमकती रहती। गले से काव्य रचना की पंक्तियाँ झरने के समान कलरव करती हुई झरा करतीं और पद-पदपर तुक इस प्रकार बज उठते, जैसे पानी के नीचे लुढ़ियाँ। इसके साथ ही हाथ-पैर हिला हिलाकर भाव बताने का काम भी चलता रहता। किशोरी चाटुज्जे का सबसे बड़ा अफ़सोस यह था कि दादाभैया— अर्थात् मैं—ऐसा सुन्दर गला पाकर भी पांचालीवालों के दल में भरती न हो सके। हो सकते, तो फिर भी देश में एक नाम रह जाता।

रात हो आती और बिछी चटाईवाली यह मजलिस

* किसी पौराणिक कथाका गीतिकाव्यात्मक रूप।

भी भंग हो जाती। भूत के भय को पीठ की रीढ़ पर लाद के घर के भीतर माँ के कमरे में चला जाता। माँ उस समय अपनी काकी के साथ ताश खेलती होतीं। पंख का काम किया हुआ घर हाथीदाँत के समान चमकता रहता। एक बड़ी-सी चौकी पर जाजिम बिछी होती। मैं जाते ही ऐसा उत्पात शुरू कर देता कि वे हाथ के पत्तों को फेंककर बोल उठतीं—लगा ऊधम मचाने। जाओ काकी, इनको कहानी सुनाओ। हम लोग बाहर के बरामदे में रखे हुए लोटे के पानी से पैर धो-धा कर नानी को खींचकर बिछौने पर ले जाते। वहाँ दैत्यपुरी से राजकन्या की नींद उचटा लाने का अंक शुरू होता। लेकिन बीच में मेरी नींद को कौन उचटाये? रात के पहले पहर में स्यार चिल्ला उठते। तब भी स्यार की आवाज़वाली रात कलकत्ते के किसी-किसी पुराने घर की भीत के नीचे चिल्ला उठती।

४

हम जब छोटे थे, तो कलकत्ता शहर की चहल-पहल आज-जैसी नहीं थी। आजकल सूरज के उजेलेका दिन ज्योंही ख़त्म हुआ कि बिजली के उजेले का दिन शुरू हो जाता है। उस समय शहर में काम तो कम होता

है ; पर विश्राम बिल्कुल नहीं। मानो चूल्हे में जलती हुई लकड़ी के बुझ जानेपर भी जलते कोयलेकी आँच रह गई है। इस समय तेल-कल नहीं चलते, स्टीमरकी सीटी बन्द हो गई होती है, कारखाने से मज़दूर निकल गये होते हैं और पाट की गाँठ ढोनेवाले गाड़ी के भैंसे टीन की छतवाले शहरी खरिक में चले जाते हैं। दिनभर नाना चिन्ताओं से जिस शहर का माथा धधकती हुई आग बना हुआ था, उसकी नाड़ी मानो अब भी धधक रही है। रास्ते के दोनों ओर की दूकानों की ख़रीद-बिक्री वैसी ही है, मानो आग सिर्फ़ थोड़ी-सी राख से ढकी हुई है। तरह-तरह की आवाज़ें करती हुई हवा-गाड़ियां चारों ओर छूट रही हैं। इनकी दौड़ के पीछे मतलब या गरज़ की धकेल कम ही होती है। हमारे उस पुराने ज़माने में दिनके ख़त्म होते ही काजकर्म की बचतवाला हिस्सा शहर की बत्ती-बुझी निचली तह में काली कमली तानकर चुपचाप सो रहता। घर में और बाहर भी साँझ का आकाश निस्तब्ध हो जाता। ईडेन गार्डेन और गंगा के किनारे शौकीन लोगों को हवा खिलाकर लौटती हुई गाड़ियों के सईसों की होऽहोऽ आवाज़ रास्ते से सुनाई देती। चैत-बैसाख केमहीने में रास्तेपर फेरी लगानेवाले हाँक देते रहते-बरिफ्। एक हाँड़ी में बर्फ दिया हुआ नमकीन पानी हुआ करता, जिसमें टीन के चोंगो में वह चीज़ बन्द होती,

जिसे कुलफ़ी का बर्फ कहा जाता था। आजकल उसे आइस या आइस-क्रीम कहते हैं। रास्ते की ओर मुँह करके बरामदे में जब मैं खड़ा होता और वह आवाज़ सुनाई देती, तो मन कैसा होने लगता था, यह मन ही जानता है। और एक आवाज़ थी 'बेल-फूल'। न जाने क्यों आजकल वसन्तकाल के मालियों की उन फुल-डालियों की ख़बर नहीं मिलती। उन दिनों घरवालियों के जूड़े से बेले की माला की खुशबू हवा में फैल जाया करती। हाथ मुँह धोने जाने के पहले स्त्रियाँ घर के सामने बैठकर हाथ में आईना लिए हुए केश सँवारतीं। बिनाई की हुई पाटी से बड़ी कारीगरी से जूड़े बाँधे जाते। उन के पहनावे में फराशडांगा की काली किनारीवाली साड़ी होती, जिसे चुनकर लहरदार बना दिया जाता। नाइन आती और झाँवें से पैर रगड़कर महावर दे जाती। ये नाइन ही स्त्रियों के दरबार में ख़बर फैलाने के काम आतीं। उन दिनों कालेज और आफ़िस से लौटे हुए दल ट्राम के पायदान पर धक्का-मुक्की करते हुए फुटबाल के मैदान की ओर भागा नहीं करते थे और लौटती बार उनकी भीड़ सिनेमा हाल के सामने भी नहीं जमती थी। नाटक के अभिनय में एक बार उत्साह दिखा था; पर क्या बताऊँ, उन दिनों हम बच्चे थे।

उस समय बड़ों के दिलबहलाव में बच्चे दूर से भी

हिस्सा नहीं बँटा पाते थे। हम कभी हिम्मत करके नज़दीक पहुँच भी जाते, तो सुनना पड़ता ;कि जाओ, खेलो। और फिर भी यदि लड़के खेलते समय जैसा चाहिये वैसा हल्ला-गुल्ला करते, तो सुनना पड़ता—हल्ला मत करो, चुप रहो। यह बात नहीं है कि बड़ों का हँसी-खेल सब समय चुपचाप ही होता हो। इसी लिए कभी-कभी दूर से उस में का कुछ झरने के फेन के समान हमारी ओर भी छिटक ही पड़ता। मैं जब इस घर के बरामदे से झुककर उधर ताकता, तो देखता कि वह घर प्रकाश से चमक रहा है। ड्योढ़ी के सामने बड़ी-बड़ी बग्घियाँ आकर खड़ी हुई हैं। सदर दरवाजे पर बड़े भाइयों में से कोई अतिथियों की अगवानी करके ऊपर ले जा रहे हैं, गुलाबपाश से उनपर गुलाब छिड़क देते हैं और हाथ में फूलों का एक-एक तोड़ा दे रहे हैं। कभी कभी नाटक से किसी कुलीन महिला की रुलाई की सिसकन की भनक आ जाती, इसका मर्म मेरी समझ में कुछ नहीं आता था। समझने की इच्छा प्रबल हो उठती। बाद में ख़बर पाता कि जो सज्जन सिसक रहे थे, वे कुलीन ज़रूर थे; पर महिला नहीं, मेरे बहनोई थे। उन दिनों के समाज में जिस प्रकार पुरुष और स्त्रियाँ दो सीमाओं पर दो ओर पड़े हुए थे, ठीक उसी प्रकार दो सीमाओं पर थे बड़े और छोटे। बैठकख़ाने के झाड़-फानूस के

प्रकाश में नाच-गान चला करता, बड़ों का दल गड़गड़े का कश लगाता रहता, औरतें हाथ में पनडब्बा लिये झरोखों के उस ओर छिपी रहतीं, वहीं बाहर की स्त्रियाँ भी आ जुटतीं और फिसिर-फिसिर करके गृहस्थी की खबरें चलती रहतीं। लड़के उस समय बिछौनों पर होते। पियारी या शंकरी कहानी सुनाती रहती, कान में भनक पड़ती—

"जैसे चाँदनी में फूल फूटा हो।"

५

हमारे समय से कुछ पहले धनी घरों में शौकिया यात्रा* का चलन था। मीठे गलेवाले लड़कों को चुनकर दल बाँधने की धूम थी। मेरे मझले काका एक ऐसे ही शौकिया यात्रादल के दलपति थे। उनमें संवाद रचने की शक्ति थी और लड़कों को तैयार कर लेने का उत्साह भी था। धनी लोगों के पालतू जैसे ये यात्रादल थे, वैसे ही पेशेवर लोगों के यात्रादल का भी उन दिनों बंगाल में नशा छाया हुआ था। इस टोले या उस मुहल्ले में नामवर अधिकारियों की देखरेख में यात्रा के

*बंगालमें अत्याधिक प्रचलित एक प्रकार के पौराणिक नाटक, उत्तर-भारत की रामलीला और रासलीला की श्रेणी के।

दल जम उठते थे। दलपति अधिकारी लोग हमेशा बड़ी जाति के या पढ़े-लिखे आदमी होते हों, सो बात नहीं थी। अपने बूतेपर वे नाम कर लेते थे। हमारे घर पर भी कभी-कभी यात्रा-गान हुआ करता था। पर देखने का कोई उपाय नहीं था, मैं था बालक। शुरू की तैयारी मैं देख सका था। सारे बरामदे में यात्रावाले भर जाते थे, चारों ओर तंबाकू का धुआँ उड़ने लगता था। (अभिनय करनेवाले) लड़कों के बाल बड़े-बड़े होते, उनकी आँखें स्याह पड़ गई होतीं और कच्ची उमर में ही उन के मुँहपर पोढ़ाई उतर आई होती। पान खाते-खाते उन के दोनों होंट काले हो गये होते। साज-सज्जा के सामान टीन के बक्सों में भरे होते। ड्योढ़ी का दरवाज़ा खुला होता और उसमें लोगों की भीड़ पिल पड़ती। चारों ओर से टग-बग टग-बग आवाज़ आती रहती। गली तो गली, उसे पार करके चितपुर का रास्ता तक ढँक जाता। रात जब नौ के क़रीब हो जाती, तो जैसे कबूतरकी पीठ पर बाज झपट पड़ता है, वैसे ही श्याम आ धमकता। घट्टे पड़े हुए कठोर हाथ की मुट्ठी में मेरी कुहनी पकड़कर कहता, चलो, माँ बुलाती है, सोने चलो। भीड़ के सामने ही इस खींच-तान से मेरा सिर नीचा हो जाता; हार मानकर सोने के कमरे में चला जाता। बाहर हाँकडाँक चल रही है, झाड़-फानूस

जल रहे हैं; पर मेरे घर में आवाज़ तक नहीं, केवल दीवट के ऊपर पीतल का प्रदीप टिमटिमा रहा है। नाचका ताल जब सम पर पहुँचता, तो साथ ही झमाझम बजते हुए करताल की आवाज़ नींद की खुमारी के बीच-बीच में सुनाई पड़ जाती।

ऐसे अवसरों पर बच्चोंको मना करना ही बड़ोंका धर्म था; लेकिन एक बार न जाने क्यों उनका मन ज़रा नर्म पड़ गया। हुकुम जारी हुआ कि लड़के भी यात्रा सुन सकेंगे। उस दिन नल-दमयन्ती की लीला थी। मैं शुरू होने के पहले रात के ग्यारह बजे तक बिछौने पर था। बार-बार यक़ीन दिलाया गया था कि यात्रा शुरू होते ही तुम लोगों को जगा दिया जायगा। ऊपरवालों का क़ायदा हमें मालूम था। उनके कहने का विश्वास किसी प्रकार नहीं हो रहा था, क्योंकि वे बड़े थे, हम छोटे।

यद्यपि शरीर बिछौने पर जाने को राज़ी नहीं था, तथापि उस रात उसे घसीटकर ले गया। इसका एक कारण तो यह था कि माँ ने कहा था, वे स्वयं मुझे जगा देंगी। और दूसरा यह कि नौ बजे के बाद अपने को जगा रखने के लिए काफ़ी धर-धकेल की ज़रूरत थी। ठीक समय पर मुझे नींद से उठाकर बाहर लाया गया। इकत्तल्ले की ओर दुतल्ले के रंगीन झाड़-फानूसकी झिलमिलाती हुई रोशनी चारों ओर छितरा रही थी।

बिछी हुई सफ़ेद चादरसे आँगन बड़ा दिखाई दे रहा था। एक तरफ बड़े मालिक लोग और जिन्हें न्यौत बुलाया गया था, वे लोग बैठे थे, और बाक़ी जगह में इधर-उधर से आए हुए लोग अपनी मर्ज़ी के मुताबिक जगहों पर भरे हुए थे। थियेटर में नामी-गरामी लोगों का दल आया था, जिन के पेट पर सोने की चेन झूल रही थी। और इस यात्रा की महफ़िल में बड़े और छोटे की देह से देह छिल रही थी। उनमें अधिकांश ऐसे ही आदमी थे, जिन्हें बड़े आदमी बेमसरफ़ के लोग कहा करते हैं। इसी तरह संवाद और संगीत ऐसे लेखकों से लिखाया गया था, जिन्होंने किरच या सरकण्डे की कलम से हाथ माँजा था, जिन्होंने अंग्रेजी कापी-बुकपर लिखने का महावरा नहीं किया था। इसका सुर, इसका नाच और इसकी सारी कहानी बंगाल के हाट-बाज़ार और राह-घाट की उपजी हुई थी; इसकी भाषा भी पण्डितजी की पालिश की हुई नहीं थी।

जब मैं सभा में बड़े भाइयों के पास बैठा, तो रूमाल में कुछ रुपये बाँधकर मेरे हाथ में उन्होंने दे दिये। वाहवाही देने के ठीक मौके पर रुपया फेंक देने का क़ायदा था। इससे यात्रावालों को ऊपरी आमदनी हो जाती थी और गृहस्थ का सुनाम होता था।

रात ख़त्म होने को आई; पर यात्रा के ख़त्म होने

का कोई लक्षण नहीं। बीच में दुलक पड़े हुए शरीर को गोदी में लेकर कौन कहाँ उठाकर ले गया, पता भी नहीं लग पाया। जान सकने पर यह क्या कम लाज की बात थी। जो आदमी बड़ों के बराबर बैठकर बख़शीस लुटा रहा हो, भरे आँगन के लोगों के सामने उसी का ऐसा अपमान! आँख जब खुली, तो देखता हू कि माँ की खाटपर सोया हुआ हूँ। दिन बहुत चढ़ गया है। धूप झाँय झाँय कर रही है। ऐसा इस के पहले कभी नहीं हुआ था कि सूरज उठ गया हो और मैं न उठा होऊँ।

आजकल शहर की चहल-पहल नदी के स्रोत के समान चलती है। उसके बीच में कहीं भी फाँक नहीं होता। रोज ही जहाँ कहीं और जिस किसी समय सिनेमा चल रहा है, और जिसकी मर्जी हुई, वही थोड़े ख़र्च में घुस पड़ता है। उन दिनों यात्रा-गान सूखी नदी में कोस-दो-कोस पर खोदकर निकाले हुए पानी के समान था। उसकी मीयाद घंटे भर की होती थी। राहगीर अचानक आ पहुँचते और अंजुली भरकर पानी पीकर प्यास बुझा लेते।

पुराना जमाना राजकुँवर के समान था। बीच-बीच में त्यौहार-पर्व के दिन जब उसकी मर्जी होती, अपने इलाके में दान-खैरात कर देता। आज का जमाना

सौदागर का लड़का है। हर क़िस्म का चमकदार माल सजाकर सदर रास्ते की चौमुहानी पर बैठा है। बड़े रास्ते से भी ख़रीदार आते हैं, छोटे रास्ते से भी।

६

नौकरों का बड़ा सर्दार ब्रजेश्वर था। जो छोटा सर्दार था, उसका नाम श्याम था। रहनेवाला वह जैसोर का था, ठेठ देहाती। भाषा उसकी कलकतिया नहीं थी। रंग उसका साँवला था। आँखें बड़ी-बड़ी। तेल से चपचपाये हुए लम्बे-लम्बे बाल। मजबूत दोहरा बदन। उसके स्वभाव में कुछ भी कड़ाई नहीं थी, दिलका सीधा था। लड़कों के लिए उस के दिल में दर्द था। उससे हमें डाकुओं की कहानियाँ सुनने को मिलतीं। उन दिनों जैसे भूत की कहानी से आदमी का मन भरा हुआ था, उसी तरह डाकुओं की कहानियाँ घर-घर फैली हुई थीं। डकैती अब भी कम नहीं होती, खून-खच्चर भी होते हैं और लूट-पाट भी। पुलिस भी ठीक-ठीक आदमियों को नहीं पकड़ पाती। परन्तु यह तो महज खबर हुई, इस में कहानी का मजा नहीं है। उन दिनों डकैती कहानी के रूप में दाना बाँध चुकी थी, बहुत दिनों से मुँहामुँहा फैल गई थी। जिन दिनों

हम लोगों का जन्म हुआ था, उन दिनों भी ऐसे आदमी दिखाई देते, जो जब हट्टे-कट्टे थे, तो डाकुओं के दल में थे। बड़े-बड़े लठैत थे, जिन के पीछे लाठी खेलनेवाले शागिर्द चला करते थे। उनकी ऐसी धाक जमी हुई थी कि नाम सुनते ही लोग झुककर सलाम कर लेते थे। अक्सर उन दिनों की डकैती गँवारों की तरह महज खून-ख़राबी का कारबार नहीं थी। उसमें जितनी ही दिलेरी जरूरी थी, उतनी ही दरियादिली भी। इधर भले आदमियों के घर भी लाठी से लाठी का मुक़ाबला करने के लिये अखाड़े खुल गये थे। जिन्होंने नामवरी हासिल की थी, उन्हें डाकू भी उस्ताद मानते थे और उनकी छाँह बचाकर चला करते थे। कई जमींदारों का व्यवसाय ही डाका डालना था। कहानी सुनी है, इसी श्रेणी के एक जमींदार ने नदी के मुहाने पर अपना दल तैनात कर रखा था। उस दिन अमावस्या थी, कालीपूजा (दिवाली) की रात। जब वे लोग काली-कंकाली के नाम पर किसी का मुण्ड काटकर मन्दिर में ले गये, तो जमींदार ने माथा ठोंककर कहा कि यह तो मेरा ही दामाद है।

और फिर रघु और विशु नामक डाकुओं की कहानी सुनी जाती थी। वे पहले से ख़बर देकर डकैती किया करते थे, कभी कमीनेपन से काम नहीं लेते थे। दूर से

उनकी आवाज सुनकर मुहल्ले के लोगों का खून बर्फ हो जाता था। औरतों पर हाथ उठाना उन के धर्म में मना था। एक बार एक स्त्री ने फर्सा लेकर काली का रूप धारण कर लिया था और उल्टे डाकुओं से ही प्रणामी वसूल कर ली थी।

हमारे घर पर एक दिन डकैती का खेल दिखाया गया था। लम्बे-लम्बे काले जवान, बड़े-बड़े उनके बाल। ओखल में चादर बाँधकर उन्होंने दाँत से पकड़ा और उसे पीठ की ओर उलाट दिया। झबरैले बालों में आदमी को बाँधकर उसे देर तक घुमाते रहे। लम्बी-लम्बी लाठियों पर पैर रखकर दुतल्ले पर चढ़ गये। एक तो दोनों हाथों के बीच से चिड़िया की तरह सटाक-से निकल गया। इन लोगों ने यह भी दिखाया कि दस-बीस कोस की दूरी पर से डकैती करके उसी रात को लौटकर अपने घर में भले आदमी की तरह कैसे सोया जा सकता है। खूब बड़ी दो लाठियाँ थीं, जिन के बीच में पैर रखने के लिए एक-एक काठ के टुकड़े आड़े बँधे हुए थे। इस लाठी को 'रङ्पा' कहते थे। लाठियों के अगले सिरों को हाथ से पकड़कर काठ के टुकड़ेवाले पायदानपर पैर रखकर चलने से एक-एक पग दस-दस पग के बराबर पड़ते और घोड़े से कहीं अधिक तेज दौड़ होती। यद्यपि मेरा मतलब कभी डाका डालने

का नहीं था, तथापि शान्तिनिकेतन के लड़कों को एक बार इस 'रङ्पा' पर दौड़ने का अभ्यास कराने का प्रयत्न मैंने किया था। डकैती के खेल के इस दृश्यके साथ श्यामकी मुँहकी सुनी हुई कहानी को मिलाकर न जाने कितनी बार दोनों हाथों से पाँजर दबाकर मैंने संध्या का समय काटा है।

उस दिन एतवार की छुट्टी थी। इसके पहले दिन की संध्या को बाहर के दक्खिनी बगीचे की झाड़ी में झींगुर झनकार रहा था, और इधर रघु डाकू की कहानी चल रही थी। काँपती छायावाले उस घर की टिमटिमाती रोशनी में मेरा हृदय धक्-धक् धड़क रहा था। दूसरे दिन छुट्टी का मौक़ा पाकर मैं पालकी में जा बैठा। वह चलने लगी—बिना चाल के ही, अनिश्चित मुकाम की ओर, कहानी के जाल से जकड़े हुए मन को ख़तरे का स्वाद चखाने के लिए। घन घोर अंधकार की नाड़ी में मानों कहारों को हाँइ-हुँइ हाँइ-हुँइ की आवाज़ ताल के साथ बजने लगी। शरीर झनझना उठा। मैदान धाँय-धाँय जल रहा था। धूप से हवा काँप रही थी। दूर काली पोखर का पानी झिलमिला रहा था। चमकीली रेत चमाचम चमक रही थी। किनारे के दरार-फटे घाट के ऊपर डाल-टहनी छितराये हुए पाकड़ का पेड़ नदी में झुक पड़ा था।

कहानी का आतंक अनजाने मैदान के पेड़ के नीचे, घने बेंत की झाड़ में जमा हो गया है। जितना ही आगे बढ़ता हूँ, उतनी ही छाती धड़कती जाती है। झाड़ के ऊपर से दो-एक बाँस की लाठियों का अगला हिस्सा दिख रहा है। वहाँ जाकर कहार कंधा बदलेंगे, पानी पियेंगे और गमछा भिगोकर सिरपर बाँध लेंगे। और फिर?

डर डर डर डर डर डर!

७

सबेरे से लेकर रात तक पढ़ाई की चक्की चलती ही रहती। इसका कल ऐंठने का काम सँझले दादा हेमेन्द्रनाथ के जिम्मे था। वे बड़े कड़े हाकिम थे। तम्बूरे का तार अधिक जोर से खींचने पर तड़तड़ा कर टूट जाता है। उन्होंने हमारे मन पर जितना ज्यादा माल लादना चाहा था, उसमें के अधिकांश की डोंगी उलट गई है, और वे न जाने किस तल में डूब गये हैं। इस बात को अब अधिक छिपा रखना बेकार है। मेरी विद्या घाटे का माल है। सँझले दादा अपनी बड़ी लड़की को शिक्षित बनाने के लिये लग पड़े थे, यथासमय उसे लोरेटो में भर्ती करा दिया था। इसके पहले ही बंगला भाषा पर उसका अधिकार हो गया था।

प्रतिभा को उन्होंने विलायती संगीत में निपुण बना लिया लेकिन ऐसा करने से देशी गान का रास्ता बंद नहीं हो गया था, यह हमें मालुम है। उन दिनों के भद्र परिवार में हिंदुस्तानी गान में उसके समान कोई नहीं था।

विलायती संगीत का गुण यह है कि उससे सुर की सधाई बहुत ठीक ठीक होती है, कान दुरुस्त हो जाते हैं और पियानो के शासन से ताल में भी ढिलाई नहीं रहने पाती। इधर विष्णु के पास बचपन से ही देशी गान शुरू हो गया था। गान की इस पाठशाला में मुझे भी भर्ती होना पड़ा। विष्णु ने जिस गान से श्रीगणेश किया था, इस जमाने का कोई भी नामी या बेनामी उस्ताद उसे छूने में भी घृणा करेगा। गान गँवई की लोरियों के अत्यन्त निचले तले में पड़ते हैं। दो एक नमूने देता हूं—

*एक ये छिलो बेदेर मेये
एलो पाड़ाते
साधेर उल्कि पराते।

---

* एक जो नट की स्त्री थी, वह आई मुहल्ले में—साध का गोदना गोदने। फिर गोदना गोदना जैसे (हुआ) वैसे ही (उसने) शुरूकर दिया बाजी का खेल (ऐ मेरी) ननद! गोदने ली ज्वाला से कितना रोई हूं, (ऐ मेरी) ननद!

आबार उल्कि परा येमन तेमन
लागिये दिलो भेलकि
ठाकुरभि,
उल्किर ज्वालाते कत केंदेछि
ठाकुरभि।

और भी कुछ टूटी फूटी पंक्तियां याद आती हैं जैसे,

+चन्द्र सूर्य हार मेनेछे, जोनाक ज्वाले बाति
मोगल पाठान हद्द होलो
फार्सि पड़े ताँति।

†गणेशेर माँ कलाबौ के ज्वाला दियो ना,
तार एकटि मोचा फलले परे
कत हबे छाना पोना।

ऐसी भी पंक्तियां हैं जिस से भूले हुए अत्यन्त प्राचीन समय की झांकी मिल जाती है। जैसे,

‡एक ये छिल कुकुर चाटा

+ चांद और सूर्य ने हार मान ली है, (अब) जुगुनू बत्ती जला रहा है ! मुगल पाठान थक गये (अब) तांती फारसी पढ़ रहा है !

† गणेश की मां, केला-बहू को कष्ट मत देना। उसका एक एक फूल अगर फल धरेगा तो कितने ही कच्चे-बच्चे होंगे।

‡ एक कुकुरचट्टा था (उसने) सियार कांटे (एक तरहका जंगली कांटा) को काट कर सिंहासन बनाया।

शेयाल कांटार बन
केटे करले सिंहासन ।

आज का नियम यह है कि पहले हारमोनियम पर सा रे गा मा सुर सधा लिया जाता है फिर कोई हल्का-सा हिंदी गान पकड़ा दिया जाता है। किन्तु उन दिनों जो लोग हमारी पढ़ाई-लिखाई की देख रेख करते थे उन्हों ने समझ लिया था कि लड़कपन लड़कों की अपनी चीज़ है और बंगला भाषा बंगाली लड़कों के मन में हिंदी भाषा की अपेक्षा सहज ही जगह बना लेती है। इस के सिवा इस छन्द का देशी ताल बायें तबले के बोल की ज़रूरत नहीं महसूस करता। वह अपने आप नाड़ी में नाचता रहता है। माँ के मुँह से निकली हुई लोरियों से बच्चे वह पहला साहित्य सीखते हैं जो उनके चित्त को मोहे रहता है, इन्हीं लोरियों से बच्चों का मन मोहने वाला गाना भी शुरू किया जाय, इस बात की मेरे ऊपर से ही परख की गई थी।

तब भी इस देश में गान की जात मारने के लिये हारमोनियम नहीं आया था। हमने कंधे पर तम्बूरा रख कर गान का अभ्यास किया था, कल-दबाऊ सुर की गुलामी नहीं की थी।

मेरा दोष यह है कि सिखाने के रास्ते में मुझे कोई

अधिक दिन तक किसी प्रकार चला नहीं सका। अपनी इच्छा के अनुसार जोड़-बटोर कर जो कुछ पाया है उसी से मैं ने अपनी झोली भर ली है। मन लगा कर सीखना यदि मेरे स्वभाव में होता तो आजकल के उस्ताद लोग मेरी अवहेला न कर सकते, क्यों कि सुयोग मुझे काफी मिला था। जितने दिनों तक हमारी शिक्षा देने के मालिक सँझले दादा थे तब तक मैं अनमना-सा विष्णु के पास बैठ कर ब्राह्म संगीत गुनगुनाया करता था। कभी कभी जब मन अपने आप लग जाता तो दरवाजे के पास खड़ा हो कर गान सीख लेता। सँझले दादा विहाग गा रहे हैं 'अति गज गामिनी रे' और मैं छिप कर मन में उसका छाप उतार रहा हूं। शाम को माँ के पास वही गान गा कर उन्हें चकित कर देना वहुत सहज काम था। हमारे परिवार के मित्र श्रीकंठ बाबू दिनरात गान में मगन रहा करते। बरामदे में बैठे बैठे चमेली का तेल मालिश कर के स्नान करते थे। उनके हाथ में गड़गड़ा होता और अम्बूरी तंबाकू की महक आस्मान में फैलती होती, गुनगुन गान चलता रहता, और वे लड़कों को अपने चारों ओर खींच रखते। वे गान सिखाते नहीं थे, देते थे, और कब मैं उठा लेता, मालूम भी नहीं होता। जब वे अपना उत्साह दबा न पाते तो उठ कर खड़े हो जाते, नाच नाच के सितार

बजाने लगते, हंसी से उनको बड़ी बड़ी आंखें चमक उठतीं और गान शुरू करते —

मै छोड़ों ब्रज की बाँसरी

और साथ ही मुझे भी गवाये विना न छोड़ते।

उन दिनों आतिथ्य का दरवाज़ा खुला हुआ था। जान-पहचान की खोज-खबर लेने की विशेष ज़रूरत नहीं थी। जो जब आ जाता उसे सोने की जगह भी मिल जाती और बाकायदा अन्न की थाली भी पहुँच जाती। इसी तरह के एक अनजाने अतिथि एक दिन लिहाफ़ में ढके हुए तम्बूरे को काँख में दबाये हुए आ पहुँचे। और अपनी गठरी खोलकर बैठने वाले घर के एक कोने में पैर फैला कर पड़ रहे। हुक्कावरदार कन्हाई ने बाक़ायदा उनके हाथ में हुक्का भी दे दिया। उन दिनों अतिथि के लिये जैसे यह तंबाकू चलता था वैसे ही पान भी चला करता आ। उस ज़माने में घरके भीतर की औरतों का सबेरे का काम यही था। बाहर के बैठक में जो लोग आते उनके लिये ढेर का ढेर पान सजाना पड़ता। चटाचट पान में चूना लगा कर लकड़ी से खैर पोता जाता, फिर ढंग से मसाला भर के बीड़ों में लौंग खोंस कर पीतल के कठरों में भरा जाता, फिर उन्हें खैर के दाग़ लगे हुए गीले कपड़े से ढक दिया जाता। उधर बाहर सीढ़ी के नीचे वाले घर में तंबाकू साजने

की धूम मची होती। मिट्टी के गमलों में राख से ढकी हुई कोयले की आग, नाग लोक के नागों के समान झूलते हुए गड़गड़े के नल और उनकी नाड़ी में गुलाब जल की सुगंधी। घर में जो लोग आते वे सीढ़ी से ऊपर चढ़ते समय इस अंबूरी तम्बाकू की खुशबू में ही गृहस्थ की 'पधारिये' की पुकार अनुभव करते। उन दिनों मनुष्य को स्वीकार कर लेने का यह बँधा हुआ नियम था। बहुत दिन हुए वह पान का भरा हुआ कठौता खिसक पड़ा है। और उन हुक्कावरदारों की जात ने अपना साज खोल कर फेंक दिया है और हलवाइयों की दुकान पर तीन दिन के बासी संदेश को रगड़ ने और मींजने के काम में जुट गये हैं।

वह अज्ञात गायक अपनी मर्जी के मुताबिक कुछ दिन रह गये। किसीने कुछ पूछा भी नहीं। प्रातःकाल में उनको उनकी मच्छरदानी से खींच कर बाहर निकालता और उनका गान सुनता। जिन के स्वभाव में नियम से सीखना नहीं है उनका शौक बेकायदे सीखने का होता है। सबेरे के सुर में गान शुरू होता—"वंशी हमारी रे।"

इसके बाद जब मेरी उमर कुछ बड़ी हुई तो घर में एक बड़े उस्ताद यदु भट्ट आ बैटे। उन्हेंने एक भारी गलती की, जिद पकड़ी कि मुझे गान सिखाकर ही

छोड़ेंगे। इस लिये मेरा गाना सीखना हुआही नहीं। चोरी चोरी कुछ संग्रह कर लिया था—अच्छा लगा था काफी सुर 'रूमझुम बरसे आजु बदरवा'। यह आज तक मेरे वर्षा के गानों के साथ दल बाँध कर रह गया है। दिक्कत यह हुई कि उसी समय एक और अतिथि बिना कुछ कहे सुने आ उपस्थित हुए। बाघ मारने की उनकी शुहरत थी। बंगाली भी बाघ मार सकता है, यह बात उन दिनों कुछ अजीब-सी सुनाई देती थी, इसी लिये ज्यादातर मैं उन्हीं के घर अँटक रहा। उन्होंने जिस बाघ के जबड़े में पड़ने की कहानी सुना कर हमारी छाती में धड़कन पैदा कर दी थी, असल में उस बाघ ने उन्हें जखम नही किया था। आसल बात यह थी कि अजायब घर में बाघ के जबड़े को देख कर उन्होंने अन्दाजे पर कहानी गढ़ ली थी। उन दिनों यह बात मैं सोच नहीं सका था पर आज साफ समझ में आ रही है। तो भी उन दिनों उस वीरपुरुष के लिये बारंबार पान-तंबाकू की व्यवस्था करनी ही पड़ी थी। दूर से कानों में कान्हड़ा का आलाप पहुँचता।

यह तो हुआ गान। सँझले दादा के हाथ हमारी दूसरी विद्या की जो नींव पड़ी थी वह भी खूब धूमधाम के साथ। विशेष कुछ फल जो नहीं हुआ सो स्वभाव के दोष से। हमारे जैसे को सामने रख कर ही राम

प्रसाद सेन के कहा था—'मन, तू ना जाने कृषि-कर्म' (मन, तुमि कृषिकाज बोझो ना)। फसल आबाद करने का काम कभी भी मुझ से नहीं हुआ।

इस खेती की हराई किन किन खेतों में लगो थी उसको भी खबर दे रहा हूं।

अंधकार रहते ही बिछौने से उठता, कुश्ती की तैयारी करता, ठंड के दिन में शरीर कांपता रहता और रोंगटे खड़े हो जाते। शहर में एक नामवर पहलवान था काना पहलवान, वही हमें कुश्ती सिखाया करता। दालान-घर के उत्तर की ओर एक खाली जमीन पड़ी हुई थी उसे गोलाबाड़ी कहते थे। नाम से जान पड़ता है कि एक ऐसा भी दिन था जब शहर ने देहात को एकदम दबोच नहीं दिया था, कुछ-कुछ खाली जमीन भी पड़ी हुई थी। शहरी सभ्यता के आरंभ में हमारी गोलाबाड़ी में साल भर के लिये धान जमा कर रखा जाता। 'ख़ास ज़मीन' की रैयत अपने धान का हिस्सा दिया करती थी। इसी चहारदीवारी से सटा हुआ था कुश्ती वाला झोंपड़ा। करीब एक हाथ गहरी मिट्टी खोद कर उस में से हटा दी गई थी और फिर एकमन सरसों का तेल ढालकर अखाड़े की जमीन तैयार की गई थी। यहां पहलवान के साथ पेंच कसना मेरे लिये बच्चों का एक खेल ही भर था। थोड़ी देर तक शरीर में खूब मिट्टी मल-मला कर

अन्त में एक कुर्ता पहन कर चला आता। सबेरे सबेरे रोज़ इतनी मिट्टी रगड़ना माँ को अच्छा नहीं लगता। उन्हे डर था कि लड़के का रंग कहीं मटमैला न हो जाय। इसका नतीजा यह हुआ था कि छुट्टी के दिन वे शोधन कार्य में जुट जातीं। आजकल की शौकीन गृहिणियाँ डिब्बों में भरा हुआ रंग साफ करने का सामान विलायती दूकानों से खरीद लाती हैं पर उन दिनों की गृहिणियाँ खुद अपने हाथों सफाई का मलहम तैयार करती थीं। उस में पिसा हुआ बादाम, मलाई, सन्तरे का छिल्का और और भी जाने क्या क्या हुआ करते थे। यदि मैं बनाना जानता और नुस्खा याद होता तो बेगम-विलास नाम देकर रोज़गार शुरू करने पर संदेश की दूकान से कम आमदनी न होती।

एतवार के दिन सबेरे बरामदे में बिठाकर मलने मींजने की क्रिया चल पड़ती और मेरा मन छुट्टी पाने के लिये उकता जाता। इधर स्कूल के लड़कों में एक अफवाह फैली हुई थी कि जनमते ही हमारे घर के लड़कों को शराब में डुबो दिया जाता है, इसी लिये हम लोगों के शरीर के रंग में साहेबो उजास आ जाती है।

कुश्ती के अखाड़े से लौट कर देखता कि मेडिकल कालेज के एक विद्यार्थी आदमी की हड्डी पहचानने की विद्या सिखाने के लिये बैठे हैं। दीवाल पर एक समूचा

कंकाल झूला करता। रात को हमारे सोने के कमरे की दीवाल पर भी यह लटकता रहता और हवा का झोंका लगते ही उसकी हड्डियां खटखटा उठतीं। उनको उलटते-पुलटते हड्डियों के मुश्किल मुश्किल नाम मालूम हो गये थे। इसीलिये हमारा भय जाता रहा था।

ड्योढ़ी पर सात बज गये। नीलकमल मास्टर की घड़ी का ठीक किया हुआ समय एकदम ठोस था। एक मिनट भी इधर उधर होने का उपाय नहीं था। शरीर तो दुबला पतला और छरहरा था पर स्वास्थ्य विद्यार्थी के (मेरे) ही समान था। एक दिन के लिये भी उनके सिर में दर्द होने का सुअवसर नहीं मिला। मैं किताब और स्लेट ले कर मेज़ के सामने जाता। तख्तासियाह पर खड़िया मिट्टी के दाग पड़ा करते, सब कुछ बंगला में ही, पाटीगणित, बीजगणित, रेखागणित। साहित्य में 'सीतार वनवास' से सीधे 'मेघनादवध' में चढ़ा दिया गया था। इसके साथही साथ प्राकृत विज्ञान भी चला करता। बीच बीच में सीतानाथ दत्त आया करते। उनकी बताई हुई बातों की जांच-पड़ताल के जरिये विज्ञान की उड़ती हुई खबरें मिला करतीं। बीच में एकबार हेरम्ब तत्त्वरत्न आये। बिना कुछ समझे बूझे ही मैं मुग्धबोध घोख डालने के काम में जुट गया। इसी प्रकार सारा प्रातःकाल नानाभाँति की पढ़ाई का जितना

ही दबाव पड़ता, भीतर ही भीतर मन उतनी ही मुस्तै-दी से चोरी-चोरी कुछकुछ बोझा फेंकता रहता। जाल में सूराख़ बना कर घोखी हुई विद्या खिसक जाना चाहती और नीलकमल मास्टर अपने इस विद्यार्थी की बुद्धि के संबंध में जो मत प्रकट करते रहते वे ऐसे नही होते थे जो पांच भलेमानस को बुला कर सुनाये जा सकें।

बरामदे के एक ओर सिरे पर एक बूढ़ा दर्जी झुका हुआ कपड़ा सिया करता था, उसकी आंखों पर आतशी शीशे का चशमा लगा होता था। वह बीच बीच में वक्त पर नमाज़ पढ़ लेता। मैं उसकी ओर देखता और सोचता, नियामत (दर्जी) कितने मजे में है। सवाल हल करते करते जब सिर चकरा जाता तो आँख पर स्लेट रख कर ओट से नीचे की ओर देखता कि ड्योढ़ी पर बैठा हुआ चन्द्रभान अपनी लंबी दाढ़ी को काठ की कंघी से झाड़ रहा और दो हिस्सों में बांट कर दोनों कानों पर चढ़ा रहा है। पास ही कंगन-पहने छरहरे बदन का छोकरा दरबान बैठा बैठा तंबाकू कूट रहा है। वहीं पर घोड़ा खूब तड़के ही बालटी में डाला हुआ अपने हिस्से का दाना चट कर गया है, इधर उधर छिटक पड़े हुए चने के दानों को कौए कूद कूद कर ठुकरा रहे हैं और जानी कुत्ता कर्तव्य समझ कर जाग उठा है और भोंक भोंक कर उन्हें भगा रहा है।

बरामदे के एक कोने में झाड़ू दे कर जमा की हुई धूल में मैंने शरीफे का बीज बो रखा था। कब उसमें से मुलायम पत्ते निकलेंगे यह देखने के लिये मन छटपटाता रहता था। ज्योंही नीलकमल मास्टर उठ कर जाते त्योंही उसे एक बार देख लेना ज़रूरी था और पानी भी देना लाजिमी था। अन्त तक मेरी साध पूरी नहीं हुई। जिस झाड़ू ने धूल जमाया था उसी ने एक दिन उसे उड़ा भी दिया।

सूरज ऊपर उठ जाता है, छाया आधे आंगन में लटक आती है। नौ बज जाते हैं, ठिगना काला गोविंद कंधे पर पीले रंग का मैला गमछा लटकाये मुझे स्नान कराने को ले चलता है। साढ़े नौ बजते ही हर रोज़ का प्राप्य दाल-भात और मछली के शोरबे का नियमित भोज। खाने को जी न करता।

दस का घंटा बजता है। बड़ी सड़क पर से कच्चे आम बेंचने वाले की उदास कर देने वाली आवाज़ सुनाई देती है। बर्तनवाला ठन ठन आवाज़ करता हुआ दूरसे और भी दूर चला जा रहा है, गली के उस किनारे के मकान की बड़ी बहू भीगे केशों को धूप में सुखा रही है और उसकी दो लड़कियाँ कौड़ी लेकर जो खेल रही हैं सो खेलही रही हैं, कोई हड़बड़ी नहीं है। उन दिनों लड़कियों को स्कूल जाने की बला नहीं थी। जान पड़ता, लड़की

का जन्म महज़ सुख के लिये ही है। बूढ़ा घोड़ा बग्घी में मुझे खींच कर दस से चार बजे तक के अण्डमन में ले चला है। साढ़े चार बजे स्कूल से लौट आता हूं। जिमनास्टिक के मास्टर आये हुए हैं। काठ के डंडे पर घंटे भर तक शरीर को उलाटता-पुलाटता हूं। यह गये नहीं कि चित्रकारी सिखाने वाले मास्टर साहब हाज़िर हैं।

धीरे धीरे मुर्चा लगे हुए दिन का उजाला मंदा पड़ जाता है। शहर की पंचमेल धुँधली आवाज़ से ईंट काठ के दैत्य (शहर) की देह में स्वप्न का राग बज उठता है।

पढ़ने के घर में तेल की बत्ती जल उठती है। अघोर मास्टर हाज़िर हैं। अंग्रेजी की पढ़ाई शुरू हुई। काले काले पुट्ठों की रीडरें मानों झपट्टा मारने के लिये मेज़ पर घात लगाये बैठी हैं। पुट्ठे ढीलमढालम हैं, पत्ते फट गये हैं, कुछ पर दाग़ पड़े हुए हैं, गलत जगह पर अंग्रेजी में नाम लिख कर हाथ साफ़ किया गया है, उस में सबके सब कैपिटल (अंग्रेजी के बड़े) अक्षर हैं। पढ़ते-पढ़ते लुढ़क पड़ता हूं, लुढ़कते-लुढ़कते चौंक उठता हूं। जितना पढ़ता हूं, उससे कहीं ज्यादा नहीं पढ़ता हूं। इतनी देर बाद बिछौने में घुस कर जरा छूट का अवसर पाता हूं। वहां सुनते-सुनते यही नहीं खतम होने पाता

कि राजकुँवर सात समुद्दर टप्पू पार के मैदान में चला है।

उस ज़माने से इस ज़माने में बहुत फर्क पड़ गया है, यह बात तब साफ़ साफ़ समझता हूं जब देखता हूं कि आजकल मकान की छतों पर न तो आदमियों का ही चलना-फिरना होता है न भूत-प्रेतों का ही। पहले ही बता आया हूं कि कड़ी पढ़ाई-लिखाई की आबहवा में टिक न सकने के कारण ब्रह्मदैत्य भाग खड़ा हुआ है। जब से यह अफवाह दूर हो गई है कि वह छत की कानिस पर आराम के साथ पैर रख कर खड़ा हुआ रहता है तब से वहाँ जूठे आमकी गुठली लेकर कौओं की छीनाझपटी चला करती है। इधर मनुष्य की बस्ती निचले तल्ले की दीवालों के चौकोने पैकबाक्स में नज़रबंद हो गई है।

मकान के भीतर वाली चहारदीवारी-घिरी छत याद आती है। संझा समय माँ चटाई बिछा कर बैठी हुई हैं, उनकी संगिनियां उन्हें चारों ओर घेर कर बातें कर रही हैं। इस बात-चीत के सिलसिले में विशुद्ध समाचार की कोई ज़रूरत नहीं हुआ करती थी। सिर्फ

समय काटने से मतलब हुआ करता था। उन दिनों दिन के समय को भर नेने के लिए नाना दाम के नाना भांति के माल-मसालों को आवग नहीं हुआ करती थी। दिन ठोस बुनाई किया हुआ नहीं था, बल्कि बड़े बड़े सूराख वाले जाल की भाँति था। चाहे पुरुषों की मजलिस हो या स्त्रियों की बैठक, बात-चीत हंसी-मजाक सब हल्के दामों के हुआ करते थे। मां की सब से प्रधान संगिनियों में थीं ब्रज आचार्जि की बहन जिन्हें 'आचार्जिनी' कह कर पुकारा जाता था। वे ही इस बैठक में दैनिक खबर सप्लाई किया करती थीं। प्रायः ही दुनिया भर की अजीब खबरें इकट्ठी कर के या बना कर ले आतीं। इन खबरों के आधार पर ग्रहों की शान्ति और स्वस्त्ययन का हिसाब खूब भारी भरकम खर्च से होता। इस सभा में मैं भी बीच-बीच में ताज़ी ताज़ी किताबी विद्या की आमदनी किया करता। सुनाता कि सूर्य पृथ्वी से नौ करोड़ मील की दूरी पर है। ऋजुपाठ* द्वितीय भाग से अनुस्वार-विसर्ग समेत स्वयं वाल्मीकि रामायण के श्लोक सुना देता। माँ को मालूम नहीं था कि उनके पुत्र का उच्चारण कितना शुद्ध है तथापि उसकी विद्या सूर्य के नौ करोड़ मील के रास्ते को पार

* ईश्वरचंद्र विद्यासागर लिखित संस्कृत की प्रारंभिक पाठ्य पुस्तक।

करके उन्हें अचरज में डाल देती थी। भला ये सारे श्लोक स्वयं नारद मुनि के सिवा और किसके मुंह से सुनाई दे सकते थे।

घर के भीतर का यह छत पूरा का पूरा स्त्रियों के दखल था। भाण्डार के साथ उसका समझौता था। वहां धूप पूरी पड़ती और जारक नीबू को भी जला देती। यहाँ स्त्रियां पीतल के कठरों में उड़द का पिसान लेकर बैठतीं और केश सुखाते-सुखाते टपाटप बड़ियाँ खोंटा करतीं; दालियाँ छोड़े हुए कपड़े कचार कर धूप में पसार जातीं। उन दिनों धोबी का काम बहुत हल्का था। कच्चे आम की फलियाँ काट कर अमचुर सुखाया जाता, छोटे बड़े माप के बहुतेरे काले पत्थर के सांचों में थक्के का थक्का आम का रस जमा कर अमावट बनाया जाता, धूप खाये हुए सरसों के तेल में कटहल का अँचार पका करता। केवड़े का खैर सावधानी से तैयार किया जाता। इस बात को जो मैं अधिक याद रख सका हूं उसका कारण है। जब स्कूल के पंडितजी ने बता दिया कि मेरे घर के केवड़े के खैर का सुनाम उनका सुना हुआ है तो इसका मतलब भी समझने में मुझे कठिनाई नहीं हुई। जो कुछ उनका सुना हुआ है वह उन्हें जानना भी चाहिये। इसी लिये घर का नेकनाम बनाये रखने के लिये बीच-बीच में छिप कर चुपके से छत पर उठ

जाता और एकाध केवड़ों में से—क्या बताऊं। चोरी किया करता कहने से अच्छा है कि यह कहूं कि हथिया लेता। क्यों कि राजे महाराजे भी ज़रूरत पड़ने पर, यहां तक कि जरूरत न पड़ने पर भी, औरों की चीज़ें हथिया लेते हैं और जो लोग चोरी किया करते हैं उन्हें जेल भेजते हैं या सूली चढ़ाया करते हैं। जाड़ों की कच्ची धूप में छत पर बैठ कर बात करती हुई स्त्रियों को कौआ भगाने की और समय काटने की एक भी जवाब-देही थी। घर में मैं एकमात्र देवर था। भाभी के अमावट का पहरा और इस के सिवा और दस-पांच खुचरे कामों का साथी अकेला मैं ही था। पढ़ कर उन्हें वंगाधिप-पराजय सुनाया करता। कभी कभी मेरे ऊपर सरौते से सुपारी काटने का भार भी आ पड़ता। मैं खूब पतली सुपारी काट सकता था। बहू ठकुरानी (भाभी) बिल्कुल ही नहीं मानती थीं कि मेरे अन्दर और कोई गुण है, यहां तक कि चेहरे में भी दोष निकाल कर विधाता पर क्रोध करा देती थीं। किन्तु मेरा सुपारी काटने वाला गुण बढ़ा-चढ़ा कर कहने में उन्हें कोई हिचक नहीं थी। नतीजा यह होता कि सुपारी काटने का काम बड़े ज़ोर शोर से चला करता। उस्का देने वाले के अभाव में महीन सुपारी काटने वाला हाथ और भी महीन कामों में लग गया है।

छत पर फैले हुए इन घरेलू कामों में देहात का एक स्वाद था। ये काम उस समय के हैं जब कि घर में ढेंकी थी, जब कि नारियल की गिरियाँ कुतरी जाती थीं, जब कि दासियाँ शाम को बैठ कर जंघे पर बातियाँ पुरा करतीं जब कि पड़ोसी के घर से अठकौर* के मनाने का निमंत्रण आया करता। आजकल के लड़के स्त्रियों के मुंह से कहानियाँ नहीं सुनते, छपी हुई पोथियों में खुद पढ़ लिया करते हैं। अचार चटनी आजकल चौक के बाजार से खरीद लाना पड़ता है जो बोतल में भरे होते हैं और चपड़ा लगा कर ठेपियों से बंद किये हुए होते हैं।

देहात की एक और छाप चंडीमंडप में थी। वहां गुरुजी की पाठशाला लगा करती। केवल घर के ही नहीं आस-पास के पड़ोसियों के लड़कों की विद्या की पहली खुरचन वहीं ताड़ के पत्तों पर पड़ती। मैं ने भी निश्चय ही यहीं पर स्वरे अ स्वरे आ के ऊपर हाथ चला कर लिखने पढ़ने का अभ्यास शुरू किया था किन्तु सौर-जगत् के सब से दूर वाले ग्रह के समान उस शिशु को मन में ले आने वाले किसी भी दूरबीन से उसे देखना अब संभव नहीं है।

* अठकौर या आटकौड़े—शिशुजन्म के अष्टम दिन को मनाया जानेवाला उत्सव-विशेष।

इसके बाद पुस्तक पढ़ने की सब से पहली बात जो याद आती है वह है षण्डामार्क मुनि की पाठशाला के विषम व्यापार को लेकर। नृसिंह अवतार ने हिरण्यकशिपु का पेट फाड़ डाला है, शायद सीसे के फलक पर खुदा हुआ उसका एक चित्र भी उसी पुस्तक में देखा था। और फिर याद आते हैं चाणक्य के कुछ श्लोक।

मेरे जीवन में बाहर की खुली छत प्रधान छुट्टी का देश था। छोटी से बड़ी उमर तक के मेरे नाना प्रकार के दिन उसी छत पर नाना भाव से कटे हैं। मेरे पिताजी जब घर पर होते तो तितल्ले के एक कमरे में रहा करते। चिलकोठे की आड़ में खड़ा हो कर दूर से कितनी ही बार मैं ने उन्हें देखा है। तब भी सूर्य उगा न होता, वे सफेद पत्थर की मूर्ति के समान चुपचाप बैठे होते और गोद में दोनों हाथ जुड़े होते थे। बीच-बीच में वे बहुत दिनों के लिये पहाड़ पर्वतों पर चले जाते थे, तब उस छत पर जाना मेरे लिये सात समुंदर पार जाने के आनंद के समान था। हमेशा के निचले तल्ले के बरामदे में बैठा बैठा रेलिंग की फाँकों में से अबतक रास्ते का आवागमन देखता आया हूं, लेकिन उस छत पर पहुंचना मानों बस्ती के सीवानी पत्थर को बहुत दूर छोड़ जाने के समान था। वहां जाने पर कलकत्ते के सिर पर पैर

रख रख कर मन वहां चला जाता है जहां आकाश का अन्तिम नीला रंग धरती की अन्तिम हरियाली में मिल गया है। तरह तरह के मकानों की तरह तरह की बनी हुई ऊंची नीची छतें आंखों से टकराती रहती हैं और बीच बीच में वृक्षों के झुटीले सिर दिख जाया करते हैं। मैं अक्सर छिप कर दुपहरी को इस छत पर चढ़ आता था। दुपहरी सदा मेरे मन को भुलाये रही है। यह मानों दिन में की रात है, बालक संन्यासी के वैरागी हो जाने का समय है। खड़खड़ी के भीतर से हाथ डाल कर घर की सिटकिनी खोल देता। दरवाज़े के ठीक सामने एक सोफा था; वहीं अत्यन्त अकेला हो कर बैठता। मुझे गिरफ्तार करने वाले जो चौकीदार थे वे उस समय पेट भर खा के ऊंघते होते और अंगड़ाई लेते लेते चटाई पर लुढ़क गये होते थे। धूप रंगी न हो आती, चील आसमान में आवाज़ दे कर निकल जाती। सामने की गली से चूड़ीवाला आवाज़ दे जाता। दुपहरी का वह सन्नाटा अब नहीं है, और न सन्नाटे का वह फेरीवाला ही अब मौजूद है।

अचानक उनकी आवाज़ वहां पहुंचती जहां घर की बहू तकिये पर बिथुरे केश लटकाये लेटी होती, लौंडी उसे भीतर बुला ले आती और बूढ़ा चूड़ीवाला नन्हे-नन्हे कोमल हाथों में धीरे धीरे दबा दबा कर पसंद की

बिल्लौरी चूड़ी पहना जाता। उस दिन की वह बहू आज के जमाने में अभी तक बहू का पद नहीं पासकी, वह आज कल कहीं नाइन्थ क्लास में सबक़ याद कर रही है। और वह चूड़ीवाला शायद उस गली में ही रिक्शा खींचता हुआ चक्कर मार रहा है। यह छत मेरे लिये किताब में पढ़ा हुआ रैगिस्तान था। चारों ओर धाँय धाँय जल रहा है, गर्म हवा सनसनाती हुई धूल उड़ाती निकल जाती है, आसमान का नीला रंग फीका हो आता है।

इस छत की रैगिस्तान में एक ओएसिस भी दिखाई दिया था। आजकल ऊपर के तल्ले में कल के पानी की पहुंच नहीं है। पर उन दिनों इसकी पहुँच तितल्लेके घर में भी थी। नहानेवाला घर है, जहां छिप कर घुस पड़ा हूं। इसे मानों बंगाल के शिशु लिविंगस्टन ने अभी अभी खोज निकाला है। कल खोल देता और जलकी धारा सारे शरीर पर गिरने लगती। बिस्तरे की एक चादर ले कर शरीर पोंछ लेता और फिर सीधा-सादा भला आदमी बन कर बैठ जाता।

छुट्टी का दिन देखते देखते खतम हो आया। नीचे की ड्योढ़ी में चार बज गये। एतवार की शाम को आसमान बुरी तरह मुंह बिगाड़े हुए है। आगेवाले सोमवार की मुंह-बाए-हुए ग्रहण की छाया उसे निगलने

लगी है। नीचे, इतनी देर बाद पहरे से भगे हुए लड़के की खोज शुरू हो गई है।

अब जलपान का समय हो आया। दिन के इस हिस्से में ब्रजेश्वर का लाल चिह्न लगा होता। जलपान का बाजार करना उसी के जिम्मे था। उन दिनों के दुकानदार घी के दाम में सैकड़े पीछे तीस चालीस का मुनाफा नहीं धरते थे, गंध और स्वाद में जलपान की सामग्री तब भी ज़हरीली नहीं हो उठी थी। आगर कचौड़ी या समोसा, यहाँ तक कि आलूदम भी जुट जाता तो उसे मुंह में भर लेने में देर न लगती। लेकिन ठीक वक्त पर जब ब्रजेश्वर अपनी टेढ़ी गर्दन को और भी टेढ़ी कर के बोलता, देखो बाबू, आज क्या ले आया हूं तो प्राय ही काग़ज के ठोंगे में बंधी हुई भुनी मूंगफली ही देखने को मिलती। उस में हम लोगों की रुचि न हो ऐसी बात तो नहीं है पर ब्रजेश्वर का आदर इस की दर में ही था। किसी दिन हम ने चूँ तक नहीं किया। यहाँ तक कि जिस दिन ताड़ के पत्ते के ठोंगे से तिल की वह मिठाई निकल आती जिसे 'गजा' कहते हैं, उस दिन भी नहीं।

दिन का उजेला धुंधला पड़जाता है। उदास दिल से एक बार छत की भी चहलक़दमी कर चुका हूं, नीचे झाँक कर देखता हूं तो तालाब से बतखें भी बाहर निकल

आई है। घाट पर लोगों का आना जाना शुरू हो गया है। बरगद के पेड़ की छाया आधे तालाब तक चली गई है, सड़क पर से बग्घी के सईस की अवाज़ सुनाई दे रही है।

६

दिन इसी प्रकार एक ही जैसा चल रहा था। दिन के बिचले हिस्से को स्कूल झपट्टा मार के चट कर जाता था, सवेरे और शाम को उसी के बचत का हिस्सा छिटक पड़ता था। घरमें घुसते ही क्लास के टेबिल और बेंच मानों सूखी कुहनी से चोट करते थे। रोज़ उनका चेहरा एक ही तरह का अलसाया दिखता था।

शाम को घर लौट आता। स्कूल-घर में तेल की बत्ती ने अगले दिन को पढ़ाई तैयार करने के रास्ते का सिगनल पकड़ रखा है। एक-एक दिन अंगन में भालू नाचानेवाला आ जाता, सँपेरा साँप खेलाने आ जाता। और ज़रा सा नवीनता की झाँकी दिखा जाता।

हमारे चितपुर रोड में अब उनकी डुगडुगी नहीं बजती। दूर से ही सिनेमा को सलाम बजा कर वे देश छोड़ कर भाग भाग खड़े हुए हैं। एक तरह का कीड़ा जिस तरह सूखे पत्ते के साथ अपना रंग मिल लेते हैं

पहचान में नहीं आते उसी प्रकार मेरे प्राण भी सूखे दिनों के साथ फीके हो कर मिले रहते।

उन दिनों खेल बहुत थोड़ी ही तरह के थे। मार्वेल था, बैटबाल जिसे कहते हैं वह भी था, जो क्रिकेट का दूर का रिश्तेदार होता है। और फिर लट्टू नचाना, पतंग उड़ाना ये सब थे। शहर के लड़कों के खेल ऐसे ही कमज़ोर किस्म के थे। मैदान ढक कर फुटबाल खेलने की उछल कूद तब भी समुद्र पार थी। इसी तरह एक ही माप के दिन सूखी खूंटियों का घेरा डाल कर मेरी गति के प्रत्येक मोड़ को घेर कर चल रहे थे।

ऐसे ही समय में एक दिन बरवा रागिनी में शहनाई बज उठी। घर में नई बहू आई, कोमल आल्हर साँवले हाथों में सोने की पतली चूड़ी पहने। पलक मारते ही बेड़ा में सूराख हो गया और जान-पहचान के बाहर की सीमा से मायावी देश का नया व्यक्ति (बहू) दिखाई दिया। मैं दूर ही दूर चक्कर लगाया करता, नजदीक जाने का साहस न होता था। वह दुलार के सिंहासन पर आ बैठी है, और मैं ठहरा उपेक्षित छोटा बच्चा।

उन दिनों मकान दो हिस्सों में बँटा था। पुरुष बाहर के हिस्से में रहते और स्त्रियां भीतर के प्रकोष्ठ में। तब भी नवाबी कायदा चला आ रहा था। याद आता है कि एक दिन नानी छत पर चहलकदमी कर रही

थीं, बगल में नई बहू थी। मन की बातें चल रही थीं। मैंने ज्योंही नजदीक पहुंचने की कोशिश की कि एक घुड़की मिली। यह मुहल्ला लड़कों की चिह्नित सीमा के बाहर पड़ता था कि नहीं। अब फिर मुझे मुंह सुखाये लौट जाना पड़ा उसी काई लगे हुए पुराने दिन की आड़ में।

जब अचानक दूर के पहाड़ से वर्षा का पानी बह आता है तो पुराने बाँध का तल्ला खधार देता है; इस बार यही हुआ। मालकिन ने घर में नया कानून जारी किया। बहूठाकुरानी (भाभी) को भीतर की छत से लगे हुए घर में जगह मिली। यह पूरी की पूरी छत उन्हीं के दखल हो गई। गुड़ियों के ब्याह में भोज का पत्तल वहीं पड़ता। यह छोटा बच्चा ही न्यौते के दिन प्रधान व्यक्ति हो उठता। बहूठकुरानी रसोई अच्छी बना लेती थीं और चाव से खिलाती थीं। इस खिलाने के शौक़ को पूरा करने के लिये मुझे सदा हाजिर पातीं। स्कूल से लौटा नहीं कि उनका अपने हाथों बनाया प्रसाद तैयार मिलता। जिस दिन चिङ्ड़ी मछली (झिंगा) की चड़चड़ी में भिगोया हुआ बासी भात सान देतीं उस दिन का तो क्या कहना। बीचबीच में जब रिश्तेदारों के घर जातीं और घर के सामने उनकी जूती नहीं दिखाई देती तो मारे गुस्से के उनके घर की किसी दामी चीज़ को

छिपा देता और इस तरह झगड़े का सूत्रपात करता। कहना पड़ता, तुम बाहर जाओगी तो तुम्हारा घर कौन सम्हालेगा। मैं क्या कोई चौकीदार हूं। वे क्रोध करके कहतीं, तुम्हारे घर सम्हालने की ज़रूरत नहीं, अपना हाथ सम्हालो।

आजकल की लड़कियों को हंसी आयेगी, कहेंगी, क्या अपने देवर के सिवा दुनिया में और कहीं कोई देवर नहीं था। बात ठीक है, मैं मानता हूं। आजकल की उमर अचानक उन दिनों की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गई है। उन दिनों बड़े छोटे सभी बच्चे थे।

इस बार मेरी निर्जन बढ़ूई छत पर एक दूसरा खेल शुरू हुआ। मनुष्य के साथ मनुष्य का स्नेह आया। मेरे ज्योतिदादा ने इस खेल को जमा दिया।

१०

छत के राज्य में नई हवा बही, नई ऋतु आई।

उन दिनों पिताजी ने जोड़ासाँको का रहना छोड़ दिया था। ज्योतिदादा आकर बाहर के तितल्ले वाले घर में जम गये। मैंने भी उसी कोने में जरा-सी जगह दखल की।

भीतरी महल का पर्दा अब जाता रहा। इन दिनों

यह बात नई नहीं लगेगी, लेकिन उन दिनों यह बात इतनी नई थी कि माप कर देखने पर थाह नहीं मिलेगी। इसके बहुत दिन पहले, उन दिनों मैं बहुत बच्चा था, मझले दादा सिविलियन हो कर देश लौटे थे। बंबई में पहले पहल अपने काम पर जाते समय बाहर के लोगों को अवाक करके उनकी आंखों के सामने बहूठकुरानी को साथ ले गये। घर की बहू को परिवार के साथ रहने न दे कर परदेश ले जाना ही बहुत था, फिर यहाँ तो रास्ते में कोई पर्दा भी नहीं था। यह एकदम बेकायदा बात थी। अपनों के सिर पर आसमान टूट पड़ा।

उन दिनों भी औरतों में बाहर निकलने लायक कपड़े की चलन नहीं हुई थी। आजकल साड़ी-सेमीज़ की जो चलन हुई है उसे पहले पहल बहूठकुरानी ने ही शुरू किया था।

छोटी लड़कियों ने तब भी वेणी लटका कर फ्राक पहनने का अभ्यास नहीं किया था। कम से कम हमारे घर में तो यह चलन नई ही आई थी। छोटी लड़कियों में पेशवाज़ की चलन थी। बेथून स्कूल जब पहले पहल खुला था उस समय मेरी बड़ी दीदी की उमर थोड़ी ही थी। वहां लड़कियों की पढ़ाई-लिखाई का रास्ता सहज बनानेवालियों के प्रथम दल में एक वह भी थीं। गोरा चिट्टा उनका रंग था। इस देश में उसकी मिसाल नहीं

मिलती थी। सुना है एकबार जब वे पालकी में बैठ कर स्कूल जा रही थीं तब पुलिस ने उन्हें पेशवाज़ पहना चुराई हुई अंग्रेज लड़की समझ कर पकड़ा था।

पहले ही बता चुका हूं कि उन दिनों बड़ों और छोटों के बीच आने जाने का पुल नहीं था। लेकिन इन पुराने कायदों के बीच में ज्योतिदादा एकदम विशुद्ध नया चित्र लेकर उपस्थित हुए थे। मैं उनसे उमर में बाहर वर्ष छोटा था। उमर की इतनी दूरी पर से भी मैं जो उनकी नज़र पड़ा था यह आश्चर्य की बात है। और भी आश्चर्य यह है कि उनके साथ बातचीत करते समय मेरी किसी बात को छोटे मुंह बड़ी बात कह कर उन्होंने कभी मेरा मुंह बंद नहीं किया। इसीलिये कोई भी बात ऐसी नहीं रही जो मेरे साहस में न अँट सके। आज बच्चों के भीतर ही मेरा रहना होता है। तरह तरह की बात शुरू करता हूं, पर देखता हूं कि उनका मुंह बन्द है। ये पूछने में हिचकते हैं। समझ जाता हूं कि ये सब उन्हीं बूढ़ों के जमाने के लड़के हैं, जबकि बड़े बोला करते थे और छोटे गूंगे बने रहते थे। पूछने का साहस नये जमाने के लड़कों की चीज़ है, पुराने ज़माने के लड़के सब कुछ गर्दन झुका कर मान लेते हैं।

छत के घर में पियानो आया। इस जमाने का वार्निश किया हुआ बहूबाजार का असबाब भी आया। छाती

गज भर की हो गई। गरीब की आंखों में आधुनिक युग की सस्ती अमीरी दिखाई दी।

अब हमारे गान का फव्वारा छूटा। ज्योतिदादा पियानो के ऊपर हाथ फेरते जाते और नये नये तर्ज के सुर झमाझम तैयार करते जाते मुझे, बगल में बैठा रखते। उन छूट-भागते हुए सुरों में शब्द गांथ देना मेरा काम था।

दिन के अन्त में छत के ऊपर चटाई और तकिया बिछ जाती। एक चांदी की रिकाबी में भीगे रूमाल में लपेटी हुई बेले की माला, रिकाबी में बरफ मिलाया हुआ एक ग्लास पानी और पनबट्टे में सुगंधित साँची पान।

बहूठाकुरानी हाथ मुंह धोकर केश बांध कर तैयार हो कर बैठतीं, देह पर एक पतली चादर फरफराते हुए ज्योति दादा आ पहुंचते, बेहला में छड़ी लागा देते और मैं ऊँचे गले से गान शुरू कर देता। गले में विधाता ने जो थोड़ा बहुत सुर दिया था, उसे तब भी लौटा नहीं लिया था। सूर्यास्तकालीन आकाश के नीचे मेरा गान एक छत से दूसरी तक होता हुआ फैल जाता। दूर समुद्र से दक्खिनी हवा लहरा उठती, आसमान ताराओं से भर जाता।

बहूठाकुरानी ने छत को बिल्कुल बगीचा बना रखा था। छत को घेरनेवाली चहारदीवारी के खंभों पर

कतार के कतार लंबे लंबे पाम के पेड़, आस पास चमेली, गंधराज, रजनीगंधा, करबीर, दोलनचंपा। इससे छत जो जख्मी हो गया है यह बात उन्होंने सोची ही नहीं। सभी अलमस्त थे।

अक्षय चौधुरी प्रायः ही आया करते। वह भी जानते थे कि उनके कंठ में सुर नहीं है, और लोग और भी अधिक जानते थे। फिर भी उनके गाने की ज़िद किसी प्रकार रोकी नहीं जा सकती थी। विशेष रूप से विहाग का उनका शौक था। आंख मूंदके गाते, श्रोताओं के मुख का भाव देख नहीं सकते। हाथ के पास आवाज़ कर सकनेवाली कोई भी चीज़ मिली नहीं कि उन्होंने दाँतो तले होठ दवाये और पटापट उसे ही ठोंकने लगे। बाँये तबले का काम उसी से निकाल लेते। जिल्द बंधी किताब होती तो काम अच्छा ही निकल जाता। भाव-विह्वल बम्भोला-बाबा मनुष्य थे। उनकी छुट्टी और काम के दिन का फर्क समझ में आता ही नहीं था।

सायंकाल की सभा भंग होती, मैं हमेशा से रतजग्गा लड़का था। सब सोने चले जाते और मैं ब्रह्मदैत्य का चेला बना चक्कर मारता फिरता। सारा मुहल्ला चुप्पी साधे होता। चांदनी रात में छत के ऊपर से लंबी पांत में फैले हुए दरख्तों की छाया ऐसी लगती मानों स्वप्न-लोक का चौक पूरा गया है। छत के बाहर शीशम का

सिर हिल उठता, उसके पत्ते झिलमिला उठते। पता नहीं क्यों, सब से अधिक जो चीज़ आंखों को लगती वह था सामने की गली के निद्रित घर की छत पर का एक ढालुआं चिलकोठा (सीढ़ी के ऊपर वाला घर)। खड़ा खड़ा वह न जाने किसकी ओर उंगली उठाये होता।

रात के एक बजता, दो बजता,—सामने की बड़ी सड़क पर से आवाज़ आती—बोल हरि, हरि बोल।

११

उन दिनों पिंजड़े में चिड़िया पालने का शौक घर घर था। मुहल्ले के किसी घर के पिंजड़े से कोयल की आवाज़ सब से बुरी लगती। बड़ी ठाकुरानी ने चीन देश की एक श्यामा चिरैया जुटा रखी थी। कपड़ेके पर्दे के भीतर से उसकी सिसकारी फव्वारे की तरह छूटती। और और भी किस्म किस्म के परिन्दे थे जिनके पिंजड़े पश्चिम के बरामदे में झूला करते। रोज़ सबेरे एक कीड़ा लाने वाला इन चिड़ियों की खुराक जुटाया करता था। उसकी झोली में से फतिंगे भी निकलते और सत्तूखोर चिड़ियों के लिये सत्तू भी।

ज्योति दादा मेरे सभी तर्कों का जवाब देते। लेकिन स्त्रियों से इतनी उम्मीद नहीं की जा सकती। एक दिन

बहूठकुरानी की मर्ज़ी हुई थी पिंजड़े में गिलहरी पोसने की। मैं ने कहा था, यह अन्याय हो रहा है। उन्होंने कहा था, गुरुआई छाँटने की ज़रूरत नहीं। इसे ठीक जवाब नहीं कह सकते। इसीलिये सवाल जवाब के दाँव पेंच में न पड़ कर मुझे चुपके से दोनों प्राणियों (गिलहरियों) को छोड़ देना पड़ा था। इस के बाद भी कुछ सुनने को मिला था पर मैंने जवाब नहीं दिया।

हम लोगों का एक नियत विवाद था जिसका अन्त कभी नहीं हुआ। उसे बताता हूं।

उमेश चलाक आदमी था। विलायती दर्ज़ी की दूकान पर छँटे कटे जितने रंगबिरंगे चिरकुट होते थे उसे वह सस्ते दामों खरीद लाता। इस में नेट का टुकड़ा और नकली लेस मिला कर स्त्रियों के लिये चोली कुर्ती वगैरह तैयार करता। औरतों के सामने बड़ी सावधानी से काग़ज का पैकट खोल कर उन्हें सजा के रखता, कहता यही आज कल का नया फैशन है। इस (नया फैशन) मंत्र का आकर्षण स्त्रियों की सम्हाल के बाहर था। मुझे इस से कितनी तकलीफ होती सो कहके समझा नहीं सकूंगा। बार बार मैं अस्थिर हो कर एतराज़ किया करता, और जवाब में सुनने को मिलता, रहने दीजिये अपना उपदेश, लंबी चौड़ी हाँकने की जरूरत नहीं है। मैं बहूठाकुरानी को बताता कि उन दिनों को काली

किनारीवाली या ढाकाई साड़ी इस से कहीं अधिक सुन्दर और शरीफाना थी। मैं सोचता हूं कि आज कल की जार्जेट-जटित भाभियों का रंग-पुता गुड़ियों-सा रूप देखकर देवरों के मुंहसे क्या कोई बात ही नहीं निकलती। उमेश की सो हुई ढकनी पहन कर तो बहू-ठकुरानी फिर भी बहुत अच्छी दिखती थीं। उन दिनों चेहरे की इतनी अधिक जालसाज़ो शुरू नहीं हुई थी।

तर्क में बहूठकुरानी से बराबर हारता ही रहा हूं क्यों कि वे तर्क का जवाब नहीं देती थीं, और फिर शतरंज में हारता रहा हूँ क्योंकि इसमें उनका हाथ बहुत साफ था।

ज्योतिदादा की बात जब चल पड़ी है तो उन्हें अच्छी तरह से पहचनवा देनेके लिये और कुछ कहना जरूरी है। और भी कुछ पहले के दिनों से शुरू करना होगा।

जमींदारी का काम देखने प्रायः उन्हें सिलाईदह* जाना पड़ता था। एक बार जब इसी काम के लिये निकले थे तो मुझे भी साथ ले लिया था। यह बात उस जमाने के दस्तूर के खिलाफ थी, अर्थात् जिसे लोग 'अति' कह सकते थे। ज्योतिदादा ने निश्चय ही सोचा था कि घर से बाहर का यह आना जाना एक चलते फिरते क्लास के समान था। उन्होंने समझ लिया था कि मेरा मन आकाश और हवा में उड़नेवाला है वहां से मैं अपने

---

*कवि की जमींदारी का सदर मुकाम, राजशाही (बंगाल) में।

आप खुराक पाया करता हूं। इसके कुछ दिन बाद जब जीवन कुछ और ऊपर के क्लास में तरक्की पा गया था, मैं तब इसी सिलाईदह में आदमी हुआ था।

पुरानी नील की कोठी तब भी खड़ी थी। पद्मा नदी दूर थी। नीचे के तल्ले में हमारी कचहरी थी और ऊपर हमारे रहने की जगह। सामने एक खूब बड़ी छत थी। छत के बहर बड़े बड़े झाऊ के पेड़ थे जो किसी दिन निलहे साहबों (अंग्रेज) के व्यवसाय के साथ ही साथ बढ़े थे। आज कोठीवाले साहबों का रोबदाब स्तब्ध हो कर ठिठक गया है। कहां हैं वे नील की कोठी के यमदूत दीवान, कहां है कंधे पर लाठी साधे कमरबंद प्यादों की पल्टन, कहां है वह लंबी मेज़वाला नाश्ते का घर जहां घुड़सवार अंग्रेज साहब सदर से आकर रात को दिन कर दिया करते, भोज के साथ युगल-नृत्य का बवंडर चला करता और रक्त में उछला करता शैम्पेन का नशा। अभागी रैयत की दुहाई देनेवाली रुलाई ऊपर वालों के कान तक पहुंच ही नहीं पाती थी, उनकी हुकूमत का रास्ता लंबा हो कर सदर जेलखाने तक चला करता था। उस दिन जो कुछ था वह सब मिथ्या हो गया है, सत्य हो कर रह गई उन अंग्रेजों की सिर्फ दो क़ब्रें। लंबे लंबे झाऊ के पेड़ हवा में झूले झूलते हैं और उस दिन की रैयत की पोते-पोतियाँ कभी कभी

आधी रात को देखा करती है कि उन साहबों के भूत उस कोठी के खंडहर और बगीचों में घूमा करते हैं।

अकेले रहने का मन ले कर पड़ा हूं। छोटा सा कोने का एक घर है; जितनी बड़ी ढालू छत है उतनी ही आडंबर वाली मेरी छुट्टी है। अनजाने परदेश की छुट्टी है। पुरानी पोखर के काले जल की तरह इस के तल का अन्दाज़ नहीं मिलता। बऊ-कथा-कओ (पपीहा-जातीय पक्षी) बोलती है तो बोलती ही जाती है, मैं उड़ती चिन्ताओं में पड़ा हूं तो पड़ा ही हुआ हूं। इसके साथ ही साथ मेरी कापी पद्य से भरना शुरू हो गई है। ये पद्य मानों आम की झड़ जाने वाली पहली बौर हैं, झड़ भी गये हैं।

उन दिनों छोटी उमर के लड़के, विशेष कर लड़कियाँ, यदि मात्रा गिन कर दो सतर पद्य लिख दिया करतीं तो देश के समझदार लोग सोचते कि मानों ऐसा कभी न हुआ है न कभी होगा।

अखबारों में उन कवयित्रियों का नाम देखा था, उनकी कवितायें भी छपती थीं। इसके बाद अत्यन्त सावधानी से चौदह अक्षर दुरुस्त रख कर लिखी हुई भली भली बातें और कच्ची तुकबंदियां ज्यों ही मिट गईं त्यों ही उनके उसी नाम-मिटाये पट पर आजकल की लड़कियों के कतार के कतार नाम चमक उठे हैं।

लड़कों का साहस लड़कियों से कहीं कम था, लज्जा कहीं अधिक थी। उस समय किसी छोटी उमर के लड़के-कवि ने कविता लिखी हो ऐसा याद नहीं आता, एक मुझे छोड़ कर। मुझ से बड़ी उमर के एक भांजे ने एक दिन बता दिया था कि चौदह अक्षर के साँचे में ढालने पर वाक्य पद्य के रूप में जम जाता है। स्वयं इस जादू विद्या का व्यापार मैंने देखा था। हाथों हाथ उस चौदह अक्षर के साँचे में कमल भी खिला, यहां तक कि उस पर भ्रमर के बैठने की भी जगह मिली। कवियों के साथ मेरा अन्तर मिट गया और तब से यह बराबर मिटताही जा रहा है।

याद है, छात्रवृत्ति के नीचे वाले दर्जे में जब पढ़ता था तो सुपरिंटेंडेंट गोविंद बाबूने आफवाह सुनी कि मैं कविता लिखता हूं। मुझे लिखने की फरमाइश की, उन्होंने सोचा था कि उनके नार्मल स्कूल का नाम चमक उठेगा। मुझे लिखना पड़ा और क्लास के लड़कों को पढ़ कर सुनाना भी पड़ा और सुनना पड़ा कि यह कविता ज़रूर चोरी की है। निंदक लोग यह नहीं जान सके कि उसके बाद जब और सयाना हुआ तो भाव की चोरी करने में हाथ की सफाई का मैंने अच्छा अभ्यास किया किन्तु ये चुराई हुई चीजें दामी माल थीं।

याद आता है, एकबार पयार और त्रिपदी छंदों को

मिला कर मैं ने एक कविता लिखी थी। उस में यह दुःख प्रकट किया था कि तैर कर कमल के फुल-चुनते समय अपने ही हाथ की तरंगों से कमल का फूल दूर हटा जाता है, उसे पकड़ा नहीं जा सकता। अक्षय बाबू अपने संबंधियों के घर लिवा जाकर यह कविता सुनवाते फिरते थे, उनके संबंधियों ने भी कहा था कि लड़के में कविता लिखने का माद्दा है।

बहू ठकुरानी का व्यवहार उल्टा था। कभी भी मैं लिखने वाला बन सकता हूं, यह बात वे किसी भी तरह मानने को राजी नहीं थीं। सिर्फ ताने देतीं और कहतीं तुम कभी भी बिहारी चक्रवर्ती की तरह नहीं लिख सकते। मेरा मन मसल जाता; सोचता, इस से कहीं अधिक छोटा दर्जा भी मिल जाता तो स्त्रियों की पोशाक के संबंध में प्रकट की हुई, अपने इस नन्हे देवर की नापसन्दगी को बहूठकुरानी यों हंसकर न उड़ा सकतीं।

ज्योतिदादा घुड़सवारी के शौकीन थे। बहू ठकुरानी को भी घोड़े पर चढ़ा कर चितपुर की सड़क से ईडन गार्डेन में घूमने ले जाते, ऐसी घटना भी उन दिनों घटी थी। सिलाईदह में उन्हों ने मेरे लिये एक टट्टू मंगा दिया और रथतला के मैदान में घोड़ा दौड़ा लाने को भेज दिया। मैं उस ऊबड़-खाबड़ मैदान में अब-गिरा अब-

गिरा करते-करते घोड़ा दौड़ा लाता था। उनके मन में जोर था कि मैं गिरूंगा नहीं, इसी लिये मैं गिर नहीं सका। कुछ समय बाद उन्होंने मुझे कलकत्ते की सड़क पर भी घोड़े पर चढ़ाया था। अब की बार यह टट्टू नहीं था, काफी मिज़ाजी घोड़ा था। एक दिन यह मुझे पीठ पर लिये-दिये ड्योढ़ी से होता हुआ सीधे आंगन में घुस पड़ा था, जहां वह दाना खाया करता था। दूसरे ही दिन से उसके साथ मेरी छोड़ाछोड़ी हो गई।

ज्योति दादा ने बंदूक चलाने में निपुणता प्राप्त कर ली थी, यह पहले बता आया हूं। उनके मन में बाघ शिकार करने की इच्छा थी। एक दिन विश्वनाथ शिकारी ने खबर दी कि सिलाईदह के जंगल में बाघ आया है। वे उसी समय बंदूक चढ़ा कर तैयार हो गये। आश्चर्य की बात यह है कि मुझे भी साथ ले लिया। कुछ दुर्घटना हो सकती है, यह बात मानों उन के विचार में थी ही नहीं।

विश्वनाथ सचमुच ही उस्ताद शिकारी था। वह जानता था कि मचान पर बैठ कर शिकार करना मर्द का काम नहीं है। बाघ को सामने से ललकार वह गोली दागता था। उसका निशाना एक बार भी नहीं चूका।

घना जंगल था। ऐसे जंगल की धूप-छाँह में बाघ दिखना नहीं चाहता था। एक मोटे बाँस की कंचियाँ

काट कर सीढ़ी-जैसा बनाया गया था। ज्योति दादा हाथ में बंदूक लेकर ऊपर चढ़ गये। मेरे पैर में जूता भी नहीं था। बाघ यदि खदेड़े तो उसे जूतों से पीटूं, ऐसा भी उपाय नहीं था। विश्वनाथ ने इशारा किया। ज्योतिदादा बड़ी देर तक देख ही नहीं सके। बहुत देर की ताक-झांक के बाद बाघ के शरीर का एक चिह्न उनकी चश्मा-पहिनी आंख को दिखाई दिया। उन्हों ने गोली दाग दी। संयोग वश वह उस की रीढ़ पर लगी। बाघ को उठने का मौका ही नहीं मिला। काठ-पत्थर जो सामने पाता उसी को वह काट खाने लगा और पूंछ पटक झटक कर भयंकर गर्जन करने लगा। सोच कर देखता हूं तो मन में संदेह होता है। इतनी देर तक बाघ मरने के लिये इन्तजारी कर रहा था, यह बात जहां तक मुझे मालूम है, बाघों के स्वभाव में नहीं है। कलकी रात कहीं उसके खाने में अफीम तो नहीं मिलाई गई थी। इतनी नींद क्यों।

और भी एक बार सिलाईदह के जंगल में बाघ आया था। हम दोनों भाई हाथी की पीठ पर सवार हो उसकी खोज में निकल पड़े। ईख के खेत से पटा-पट ईख उखाड़ कर चबाते चबाते, पीठ पर भूकम्प पैदा करता हुआ हाथी भारी भरकम चाल से चलने लगा। सामने आ गया जंगल। वह पेड़ों को पैरों से दबाता और

सूंड से खींच कर उखाड़ फेंकता। इस तरह कलाबाज़ी करता हुआ हाथी आगे बढ़ने लगा। इसके पहले ही विश्वनाथ के भाई चामरू से किस्सा सुन रखा था कि जब बाघ कूद कर हाथी की पीठ पर चढ़ बैठता और पंजा गड़ा कर जम जाता है तो कितना विकट संकट उपस्थित हो जाता है। हाथी उस समय गों-गों करता हुआ झाड़झंखाड़ के बीच से भागता होता है और जो आदमी उसकी पीठ पर होते हैं, पेड़ के तने के धक्के से, उनके हाथ पैर और सिर का कोई पता नहीं चलता। उस दिन हाथी की पीठ पर बैठे बैठे मेरे मनमें अन्त तक वह हड्डी-पसली चूर कर देने वाला चित्र ही चक्कर काटता रहा। शर्म के मारे डर को दबा रखा था। लापरवाही का भाव दिखा कर इधर उधर देखता रहा, मानों बाघ एक बार मिल गया तो दिखा दूंगा। हाथी घने जंगल में घुस पड़ा। एक जगह पहुंच कर ठिठक कर रुक गया। महावत ने उसे होशियार करने की कोशिश भी नहीं की। दो शिकारी प्राणियों में बाघ पर ही उसका विश्वास ज्यादा था। उसकी सब से बड़ी चिन्ता यह थी कि ज्योति दादा बाघ को घायल करके उसे मरने-मारने पर उतारू कर देंगे। अचानक बाघ एक झाड़ के भीतर से कूद पड़ा, मानों मेघ के भीतर से एक वज्रवाली आंधी का झोंका निकल आया

हो। हमारी दृष्टि बिल्ली कुत्ता स्यार देखने की दृष्टि है, यह तो गर्दन पर लिये हुए है मर्दानगी की ठाठ, और फिर भी मानों इस का कोई भार ही नहीं है। दुपहरी की धूप में खुले मैदान के भीतर से वह दौड़ चला। क्या ही सुंदर और सहज था उस के चलने का वेग। खेतों में उस समय फसल नहीं थी। बेतहाशा भागते हुए बाघ को नज़र भर देखने की जगह यही तो है, यही धूप-ढला पीले रंग का विशाल मैदान।

एक और बात बाकी है। सुनने में मजेदार हो सकती है। सिलाईदह में माली फूल चुन कर फूलदानी मे सजा कर रख जाता। मेरे दिमाग में यह झक सवार हुई कि फूल के रंगीन रस से कविता लिखी जाय। निचोड़-गार कर जो कुछ रस निकलता उस से कलम की नोक भी नहीं भीगती। सोचा, एक कल क्यों न तैयार किया जाय। छेदवाला एक कटोरा और उसके ऊपर घुमा कर चला दिया जा सकने लायक एक इमाम दस्ते का लोढ़ा, बस इतने ही से काम चल जायगा। वह घुमाया जायगा रस्सी में बांध कर एक चक्के से। ज्योति दादा के पास अर्जी पेश कर दी। खूब संभव वे मन ही मन हँसे थे पर बाहर से लखाई नहीं दिये। हुक्म जारी कर दिया, बढ़ई लोहा कक्कड़ लेकर हाजिर हुआ। कल तैयार हो गया। फूल से भरे काठके

कठरे में रस्सी से बँधा लोढ़ा जितना ही घुमाया जाने लगा उतना ही फूल पिस कर कीचड़ बनने लगे, रस नहीं निकला। ज्योतिदादा ने देखा कि फूल का रस और कल का दबाव इन दोनों का तुक नहीं मिला। तो भी मेरे मुंह पर हंस नहीं पड़े।

ज़िन्दगी में यह पहली बार इंजिनियरिंग करने उतरा था। शास्त्र में कहा है कि जब कोई आदमी जो नहीं है वही बनना चाहता है तो उसका मान मर्दन करने के लिये एक देवता सदा तैयार रहते हैं। उन्हीं देवता ने उस दिन मेरी इंजिनिरिंग पर कटाक्ष किया था। तब से मेरा यंत्र पर हाथ लगाना बन्द है, यहां तक कि सितार-इसराज पर तार तक नहीं चढ़ाया।

जीवनस्मृति में मैं ने लिखा है कि फ्लाटिला कम्पनी के साथ जोर-आजमाई करके बंगाल की नदी में स्वदेशी जहाज़ चलाने के मामले में ज्योतिदादा ने किस प्रकार अपने को बरबाद कर डाला था। बहू ठकुरानी की मृत्यु उसके पहले ही हो गई थी। ज्योतिदादा अपने तितल्ले का डेरा उठाकर चलते बने थे। अन्त में उन्हों ने अपना घर बनाया था रांची के एक पहाड़ पर।

१२

इस बार तितल्ले के घर का एक और अंक आरंभ हुआ मेरी दुनिया को ले कर।

एक दिन गोलाघर पालकी और तितल्ले की छत के खाली घर में मेरा खानाबदोश का-सा डेरा था, कभी यहां कभी वहां। बहूठकुरानी आईं, छत के घर के पास बगीचा लग गया। ऊपर के घर में प्यानो आया, नये नये सुरों का का फव्वारा छूटने लगा।

पूर्व की ओर सीढ़ी के ऊपर वाले घर की छाया में सवेरे ज्योति दादा के काफी पीने का सरंजाम होता। उसी समय वे अपने किसी नाटक का पहला खाका पढ़ कर सुनाते। उसमें कभी कभी कुछ जोड़ देने के लिये मेरी भी बुलाहट होती, उन अत्यन्त कच्चे हाथों की लाइनों के लिये। धीरे धीरे धूप आ जाती, कौए रोटी के टुकड़े पर नजर लगाये ऊपर की छत पर हाय-तोबा मचाने लगते, दस बज जाते, छाया जाती रहती, छत गर्म हो उठती।

दोपहर को ज्योतिदादा निचले तल्ले की कचहरी को जाते। बहूठकुरानी फलों के छिल्के छुड़ा छुड़ा कर काट काट कर सावधानी के साथ चांदी की रिकाबी में सजा देतीं। उसी के साथ उन के अपने हाथों बनाई

हुई कुछ मिठाइयां भी होतीं। और ऊपर से गुलाब की पंपड़ियां छीट दी गई होतीं। ग्लास में होता कच्चे नारियल का पानी या फलों का रस या बर्फ से ठंडी की हुई ताल की मुलायम कुइयाँ। सब के ऊपर एक फूल कढ़ा हुआ रेशमी रूमाल डाल दिया गया होता। इसे मुरादाबादी खोंचे में भर कर बहू ठकुरानी जलपान के समय एक दो बजे के आस पास कचहरी में भिजवा देतीं।

उस समय 'वंगदर्शन'※ की धूम मची हुई थी। सूर्यमुखी और कुंदनंदिनी+ घर घर अपने आदमियों की तरह आवागमन करने लगी थीं। क्या हुआ, क्या होगा, सारे देश को यही चिन्ता लगी हुई थी।

वंगदर्शन आता तो दुपहरी को मुहल्ले भर में किसी को नींद नहीं आती। मेरे लिये सुभीता था, छीनाझपटी करने की ज़रूरत नहीं पड़ती थी क्यों कि मुझ में एक गुण था। मैं पढ़ कर सुना अच्छा सकता था। बहू ठकुरानी अपने आप पढ़ने की अपेक्षा मुझ से पढ़वा कर सुनना ज्यादा पसंद करती थीं। उस समय बिजली के पंखे नहीं चले थे। पढ़ते-पढ़ते बहू ठकुरानी के पंखे की हवा का एक हिस्सा मैं भी वसूल कर लेता था।

※ बंकिम बाबू द्वारा सम्पादित बंगला मासिक पत्र।

\+ बंकिम बाबू के उपन्यास के दो स्त्री-पात्र।

१३

बीच बीच में ज्योतिदादा हवा बदलने के लिये गंगा किनारे के बगीचे में चले जाते। तब भी विलायती सौदागरी की छूत से गंगा के तीर की जात नहीं मारी गई थी। उसके दोनों किनारों के चिड़ियों के बसेरे नुच नहीं गये थे, आकाश के प्रकाश में लोहे के कल की काली काली सूंड़ों ने काली साँस नहीं फूंक दी थी।

गंगा किनारे का जो पहला वासस्थान मुझे याद है वह एक दुतल्ला मकान था। नई वर्षा आई है, मेघ की छाया स्रोत के ऊपर अपनी तरंग लहराती हुई बह चली है। उस पार के बन के मस्तक पर मेघ की छाया काली हो कर घनी हो गई है। ऐसे दिनों में प्रायः मैं गान रचा करता हूं, पर जिस दिन की बात कह रहा हूं, उस दिन ऐसा न कर सका। मेरे मन में उस दिन विद्यापति का पद जाग उठा—"ए भरा बादर माह भादर शून्य मंदिर मोर"। इसे अपने सुर के साँचे में ढाल कर रागिनी की मुहर मार के अपना बना लिया। उस सुर से मीना किया हुआ गंगा किनारे का वह बदलीवाला दिन आज भी मेरी वर्षा-गान की संदूक में रखा रह गया है। याद आ रहा है, उस दिन रह रह कर हवा का झोंका

पेड़ों के सिर पर टकरा रहा था, डालों और टहनियों में गुत्थमगुत्थी मच जाती थी, छोटी छोटी डोंगियाँ सफेद पाल उड़ाती हुई हवा की ओर झुकी हुई भागी जा रही थीं और लहरें उछल उछल कर छपाक छपाक शब्द करती हुई घाटों से टकरा रही थीं। बहू ठकुरानी आईं, उन्हें मैं ने वही गान सुनाया। उन्होंने यह नहीं कहा कि अच्छा लगा, चुपचाप सुनती रहीं। उस समय मेरी उमर सोलह या सत्रह की होगी। अंट संट तर्क कर के बतकटौवल तब भी चलती थी पर उसमें का तीखापन जाता रहा था।

इसके कुछ दिन बाद मोराना साहब के बगीचे में जगह बदली गई। उसे राजभवन कहा जा सकता है। रंगीन कांच की खिड़कियों वाले ऊंचे-नीचे कमरे, संगमर्मर का बंधा हुआ फर्श, गंगा के ऊपर से लंबे बरामदे तक एक पर एक सजी हुई सीढ़ियां। यहां मेरी आंखों में रात जगने का नशा लगता। साबरमती नदी के किनारे की चहलकदमी के साथ यहां की चहलकदमी का ताल मिलाना चलता रहता। वह बगीचा आज नहीं है, डांडी का कारखाना लोहे के दाँतों से उसे चबाकर निगल गया है।

इस मोराना के बगीचे के प्रसंग में मौलसिरी के पेड़ के नीचे की एक दिन की रसोई तैयारी की बात याद

आ रही है। यह बात नहीं है कि उस में मसाले बहुत अधिक थे, उस में हाथ का गुन था। याद आता है जनेऊ के समय बहू ठकुरानी हम दो भाइयों के लिये हविष्यान्न बना देती थीं, उसमें गाय का घी डाला जाता। वे तीन दिन अपने स्वाद और गंध से लोभियों को मुग्ध किये रहते थे।

मेरे लिये एक बड़ी कठिनाई यह थी कि रोग मेरे शरीर को सहज ही पकड़ नहीं सकता था। घर के और सब लड़के, जो बीमार होना जानते थे, उनके हाथों की सेवा पाया करते और उनका सारा समय ले बैठते। मेरा हिस्सा कम पड़ जाता।

तितल्ले के वे पुराने दिन उन्हें लिये-दिये मिट गये। इसके बाद आया तितल्ले में मेरा अपना आवास। आगे के साथ इसका ठीक मेल नहीं बैठाया जा सकता।

घूमते-फिरते यौवन के सदर दरवाजे तक आ गया हूं। अब फिर उस बचपन की सीमा की ओर ही लौटना पड़ रहा है।

अब सोलह वर्ष की उमर का हिसाब देना पड़ रहा है। इसके शुरू में ही भारती+ दिखाई पड़ी थी। आजकल देश में चारों और नई पत्रिका निकालने की व्याकुलता

+ प्रधानतः कवि के परिवार के साहित्यिकों द्वारा संपादित मासिक पत्रिका—अनु०।

फूट उठी है। जब घूम कर उन दिनों के अपने पागलपन की ओर देखता हूं तो इस नशे का तेज समझ सकता हूं। मेरे जैसा लड़का जिसमें न विद्या थी न शक्ति, वह भी उस बैठक में जगह दखल करके बैठ गया और फिर भी किसी की नजरों को खटका नहीं, इस से जाना जा सकता है कि चारों ओर लड़कपन की हवा का नशा छाया हुआ था। उस समय देश में एकमात्र प्रौढ़ हाथ का जो पत्र दिखाई दिया था वह था वंगदर्शन। हमारी यह पत्रिका (भारती) कच्चे-पक्के हाथों की खिचड़ी थी। बड़े दादा जो कुछ लिखते उसका लिखना जितना कठिन था, समझना भी उतना ही कठिन था। और उसीमें मैं भी एक कहानी लिख बैटा। यह समझने की उमर उन दिनों नहीं थी कि वह किस बकबाद की बुनावट है, और ऐसा जान पड़ता है मानों और लोगों की भी सोच बिचार करने की आंखें खुली नही थीं।

यहीं बड़े दादा की बात कह डालने का अवसर आया है। ज्योतिदादा की वैठक तितल्ले के घर में था और वड़े दादा का था हमारे दक्खिन में बरामदे में। एक समय बड़ी बड़ी तत्त्वकथाओं को लेकर उन्होंने अपने मन में ही डुबकी लगाई थी। यह हम लोगों की पहुंच के बाहर की बात थी। ऐसे आदमी कम थे

जो उन बातों को सुन सकें जिन्हें वे लिखते या सोचते थे। यदि कोई राजी होकर अपने को उनकी पकड़ में आ जाने देता तो उसे वे छोड़ना ही नहीं चाहते थे, या फिर वही उन्हें नहीं छोड़ना चाहता था। उन पर वह जो कुछ दावा करता वह महज़ तत्त्व-कथा की सुनाई के बदले में। बड़े दादा का एक संगी जुटा था; उसका नाम हमें मालूम नहीं, पर सभी लोग उसे फिलासफर कहा करते थे। मेरे अन्य भाई लोग इन फिलासफर महाशय को बनाया करते थे। सिर्फ इसी लिये नहीं कि उनका लोभ मटन और चाय पर था बल्कि इस लिये कि दिन दिन उनकी नाना भांति की ज़रूरतों की फिहरिश्त बढ़ती ही जाती थी। दर्शन शास्त्र के सिवा बड़े दादा का एक और शौक था गणित की समस्याओं का हल करना। उनके अंकों से चिह्नित पत्रे दक्खिनी हवा में बरामदे में उड़ा करते थे। बड़े दादा गाना नहीं जानते थे, विलायती वंशी बजाया करते थे; सो भी संगीत के लिये नहीं, हिसाब लगा कर एक एक रागिनी को माप लेने के लिये। इसके बाद एक बार 'स्वप्न प्रयाण' काव्य लिखने लगे। उसके शुरू में छंद बनाना शुरू हुआ। संस्कृत भाषा की ध्वनि को बंगला ध्वनि के बटखरे से तौल तौल कर सजा रखते और छंद बनाया करते। इन में से कई को तो उन्हों ने रखा है, कई को नहीं रखा,

वे फटे पन्ने पर से ही तितर बितर हो गये। फिर काव्य लिखने लगे। जितना लिख कर रखते उस से कहीं अधिक फेंक देते। जो कुछ लिखते वह सहज ही पसंद न आता। उनकी सब फेंकी हुई पंक्तियों को बटोर रखने लायक बुद्धि हम में नहीं थी। जैसे जैसे लिखते जाते वैसे वैसे सुनाते जाते; सुनने वाले उन्हें घेर कर बैठ जाते। इस काव्य रस से हम सारे घर के लोग मतवाले हो उठते थे। पढ़ने के बीच बीच में ठहाके की हँसी उबल पड़ती। उनकी हंसी से आकाश भरा रहता। हंसी के झोंक में यदि कोई पास बैठा मिल जाता तो उसे थपड़िया कर अस्थिर कर देते। यह बरामदा जोड़ासाँको कोठी का एक निर्झर था, जब बड़े दादा शान्तिनिकेतन चले गये तो इस निर्झर का स्रोत सूख गया। मुझे केवल बीच बीच में याद आता है कि उस बरामदे के सामने के बगीचे में मन जाने-कैसा कर देनेवाली शरद् ऋतु की धूप फैली रहती और मैं गाता रहता—आजि शरत तपने, प्रभात सपने, कि जानि परान की ये चाय (आज शरद् की इस धूप में, प्रभात के स्वप्न में, प्राण न जाने क्या चाह रहा है !) और फिर याद आता है एक तपे हुए दिन की झाँय झाँय करती हुई दुपहरी में यह गान—हेला फेला सारा बेला, ए की खेला आपन सने (खेल ही खेल में सारा दिन

निकल जाता है यह अपने ही साथ कैसा खेल खेला जा रहा है !) ।

बड़े दादा का एक और अभ्यास दृष्टि आकर्षण करने योग्य था, उनका तैरना। तालाब में उतर कर ज्यादा नहीं तो पचास बार तो ज़रूर इस पार से उस पार जाते। जब पेनेटी के बगीचे में थे तब तो गंगा पार कर वे बहुत दूर तक तैरते चले जाते थे। उनकी देखादेखी हम लोगों ने भी बचपन से ही तैरना सीखा था। सीखना खुद-ब-खुद शुरू किया था। पाजामा भिगो कर उसे उड़ा उड़ा कर हवा से भर लेते थे। पानी में उतरते ही वह हवादार कमरबंद की तरह फूल उठता। फिर तो डूबने का भय नहीं रहता। बड़ी उमर में जब सिलाईदह के दीयर में रहता था तब एक बार तैर कर पद्मा पार कर गया था। यह बात सुनने में जितनी अचरज में डालनेवाली लगती है असल में उतनी नहीं है। उस समय पद्मा में बीच बीच में रेती पड़ी हुई थी और उसका खिंचाव ऐसा नहीं था कि उसकी सराहना की जा सके। तौभी बांगर के रहने वालों को यह पुराना किस्सा सुनाने लायक है। कई बार मैंने सुनाया भी है। बचपन में मैं जब डलहौजी पहाड़ पर पिताजी के साथ गया तब उन्हों ने मुझे कभी अकेले घूमने जाने से रोका नहीं। पगडंडी पर गोंप वाला

सोटा लेकर निकल पड़ता और एक पहाड़ से दूसरे पहाड़ तक चढ़ जाता। इस में सब से मजेदार बात थी मनही मन डर बना लेना। एक दिन उतराई की ओर आते आते पैर पेड़ के नीचे जमे हुए सूखे पत्तों पर जा पड़ा था। पैर जरा-सी फिसलन आते ही लाठी से सम्हाल लिया था। लेकिन ऐसा भी तो हो सकता था कि सम्हाल ही न पाता। फिर तो ढालू पहाड़ पर से लुढ़कते पुढ़कते नीचे के झरने में गिर जाने में कितनी देर लगती। क्या हो सकता था उसे इतना-सा बढ़ा कर मैंने मां से कहा था। इसके सिवा पाइन के घने जंगल में भालू से मुठभेड़ हो जाना कुछ भारी थोड़े ही थी, यह भी जरूर एक सुनने लायक बात थी। ऐसी-कुछ घट सकने वाली बात घटी नहीं इसीलिये जितना अघटन हो सकता था उसे मन में जमा रखा था। हमारा तैर कर पद्मा पार करने का जो किस्सा है उसका इन कहानियों से विशेष फर्क नहीं है।

जब मैं सत्रहवें साल में पड़ा तो भारती की सम्पादकी बैठक से मुझे हट जाना पड़ा।

इसी समय मेरा विलायत जाना निश्चित हुआ था, साथ ही तै हुआ कि जहाज पर बैठने के पहले मझले दादा के साथ रह कर मुझे विलायती चालचलन की नींव दे रखनी चाहिये। वे उन दिनों अहमदाबाद में जज थे।

मझली बहू ठकुरानी, और उनके लड़के-लड़कियां, उस समय विलायत में थीं ; और वे इस बात की इन्तजारी कर रही थीं कि फर्लो लेकर मझले दादा उनके साथ हो जांयगे।

मुझे जड़ समेत उखाड़ कर एक खेत से दूसरे खेत में ले आया गया। नई आब हवा के साथ समझौता हुआ। शुरू में सब कुछ में लज्जा बाधा देने लगी। चिन्ता यह थी कि नये लोगों के बातचीत करते समय अपना मान कैसे बचा सकूंगा। जिस आनजाने संसार के साथ घनिष्ठता सहज नहीं थी और जिसे तरह दे देने का रास्ता भी नहीं था वहां मेरे जैसे लड़के का मन बारंबार ठोकर खा खा कर हैरान हो रहा था।

अहमदाबाद में एक पुराने इतिहास के चित्र में मेरा मन चक्कर काटने लगा। जज का बंगला शाही बाग़ में था, बादशाही जमाने के राज भवन में। दिन को मझले दादा काम पर चले जाते, बड़े बड़े खाली घर मुंह बाये रहते, सारा दिन मैं इस प्रकार चक्कर लगाता मानों भूत लगा हुआ हो। सामने प्रकाण्ड चबूतरा था। वहां से दिखाई पड़ता कि साबरमती नदी घुटने भर जल को लोटाती हुई बालू के भीतर टेढ़ी मेढ़ी बहती चली जा रही है। चबूतरा में कहीं कहीं चहबच्चे के पत्थरों की बंधाई में मानों बेगमों के अमीराना गुसल की खबरें जमी हुई थीं।

मेरा बचपन

हम कलकत्ते में बड़े हुए हैं, वहां इतिहास का वह चेहरा वही नहीं दिखाई देता जो गर्व से सिर उठाये हो। हमारी दृष्टि बहुत पास की ओर के ठिगने (संकीर्ण) समय में ही बंधी हुई थी। अहमदाबाद में यह पहली बार देखा कि चलता हुआ इतिहास रुक गया है, दिख रहा है उसकी पीछे मुंड़ी हुई कुलीनता—उसका बड़े घर के होने का गौरव। उसके पुराने दिन मानों यक्ष के धन की तरह मिट्टी के नीचे गड़े हुए हैं। मेरे मन में (यहीं) क्षुधित पाषाण* की कहानी का आभास मिला था।

वह आज से कई सौ वर्ष पहले की बात है। नौबत-खाने में रोशनचौकी दिन रात आठों पहर की रागिनी में बज रही है, रास्ते में ताल-ताल पर घोड़ों के टाप की आवाज़ सुनाई दे रही है, घुड़सवार तुर्की फौज़ के कूच का डंका बज रहा है, उनके भालों के फलकों पर धूप चमक रही है, बादशाही दरबार के चारों ओर सत्यानाशी काना-फूंसी चल रही है। भीतर महल में हाथ में नंगी तलवार लिये हबशी खोजे पहरा देरहे हैं, बेगमों के हम्माम में गुलाब-जल के फव्वारे छूट रहे हैं, बाजूबंद और कंकण की झनकार उठ रही है। किन्तु आज वह शाहीबाग़ भूली

---

* कवि की लिखी हुई इसी नाम की प्रसिद्ध कहानी।

हुई कहानी की तरह ठिठका हुआ खड़ा है, उसके चारों ओर न तो वह रंग है न वह ध्वनि ; हैं केवल सूखे हुए दिन, रस-झरी रातें।

पुराने इतिहास की ठठरी खड़ी है, उसके सिरपर खोपड़ी है, मुकुट नहीं। उसके ऊपर छिल्का या मुखवास पहना कर मन के अजायब घर में एक भरी-पूरी मूर्ति तैयार कर सका हूं, यह कहना अत्युक्ति होगी। जमीन तैयार करके जो एक ढाँचा मन के सामने खड़ा किया था वह मेरी मौज का ही खेल था। कुछ याद रहता है, बहुत-कुछ भूल जाता हूं, इसी लिये इस प्रकार पैबंद लगाना सहज होता है। अस्सी साल बाद आज जो अपना ही एक रूप सामने दिख रहा है उस में का सब कुछ असली के साथ अक्षरशः नहीं मिलता, बहुत कुछ मन-गढ़ंत है।

मेरे यहां कुछ दिन रहने के बाद मझले दादा ने सोचा कि जो लोग विदेश में देश का रस दे सकें ऐसी कुछ स्त्रियों से मिला देने से शायद मेरा घर-छोड़ा मन कुछ आराम पायेगा। अंग्रेजी भाषा सीखने का भी यही सहज उपाय होगा। इसी लिये मैं कुछ दिनों के लिये बंबई के एक गृहस्थ के घर रहने लगा था। उस घर की कोई एक आज-कल की पढ़ाई-लिखाई वाली महिला अपनी शिक्षा विलायत से मांज कर चमाचम चमका लाई

थीं। मेरी विद्या मामूली ही थी; मेरी ओर अगर वे लापरवाही दिखातीं तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। उन्हों ने ऐसा नहीं किया। पोथी पढ़ी विद्या का आडंबर कर सकूं ऐसी पूंजी मेरे पास न थी, इसी लिये सुविधा पाते ही उन्हें बता देता कि कविता लिखने में मेरा हाथ मँजा हुआ है। जिनके निकट मैंने अपनी इस कविगिरी का परिचय दिया था उन्होंने इसे माप जोख ठोक बजा कर नहीं बल्कि यों ही स्वीकार कर लिया था। उन्होंने कवि से एक पुकार का नाम चाहा, मैं ने दे दिया। वह उन के कानों को अच्छा लगा। उसी नाम को उन्होंने मेरे छंद में गुंथवा देना चाहा था। अपने काव्य की बंधाई में मैंने उसे चुन दिया था। उन्हों-ने उसे प्रभात काल की भैरवी के सुर में सुना। बोलीं, कवि, तुम्हारा गान सुन कर मैं शायद मरण के दिन भी प्राण पा कर बच उठूंगी। इससे जान पड़ेगा कि स्त्रियां जिस के प्रति दुलार प्रकट करना चाहती हैं उसकी बात ज़रा मधु में सान कर बढ़ा-चढ़ा कर ही कहती हैं। याद आता है उन्हींके मुंह से अपने चेहरे की पहली तारीफ़ मैंने सुनी थी। अक्सर उस वाहवाही में एक निपुणता पाई जाती।

जैसे, एक बार उन्होंने मुझे विशेष रूप से कहा था, तुम्हें मेरी एक बात माननी ही पड़ेगी, तुम कभी दाढ़ी

न रखना—ऐसा न हो कि कभी भी तुम्हारे मुख की सीमा ढंक जाय। उनकी यह बात आज तक मानी नहीं जा सकी यह सभी जानते हैं। मेरे मुंह पर हुकुम-उदूली के चिह्न प्रकट होने के पहले ही उनकी मृत्यु हो गई थी।

हमारे उस बरगद के पेड़ पर किसी किसी साल अचानक विदेशी चिड़ियाँ आकर घोंसला लगाती हैं। उनके पंखों का नाच पहचान भी नहीं पाता कि वे चल देती हैं। ये दूर के वन से अज्ञात सुर ले आती हैं। इसी प्रकार जीवन-यात्रा के बीच बीच में संसार के अन-चीन्हे महल से अपने-जन की दूती आती है, हृदय के अधिकार की सीमा बढ़ा कर चली जाती है। बिना बुलाये ही आती है और अन्त में एक दिन बुलाने पर भी उसे नहीं पाया जाता। जाते-जाते बचे-रहने-की चादर के ऊपर फूल-कढ़ा गोटा चढ़ा जाती है और हमेशा के लिये दिन-रात का दाम बढ़ा जाती है।

१४

जिस मूर्तिकार ने मुझे गढ़ा था उसके हाथों मेरा पहला खाका बंगाल की मिट्टी से तैयार किया गया था। एक चेहरे की पहली झलक दिखाई दी। उसी को बचपन कहता हूं, उसमें बहुत अधिक मिलावट नहीं है।

उसका माल-मसाला अपने में ही जमा था और कुछ कुछ घर की आबहवा में और घर वालों के हाथ में था। बहुधा यहीं रचना का काम खतम हो जाता है। इसके ऊपर पढ़ाई-लिखाई सीखने के कारखाने में जिनकी गढ़ाई-पिटाई होती है वे लोग बाजार में विशेष मार्का वाला दाम पाते हैं।

दैवक्रम से मैं उस कारखाने को प्रायः पूरे का पूरा ही छोड़ गया था। जिन मास्टरों और पंडितों को मुझे पार लगा देने के लिये विशेष भाव से रखा गया था उन्होंने निराश होकर पतवार छोड़ दी थी। ज्ञानचन्द्र भट्टाचार्य महाशय आनंदचंद्र वेदान्तवागीश के पुत्र थे, बी.ए. पास। उन्हों ने समझ लिया था कि पढ़ाई-लिखाई की पक्की सड़क पर इस लड़के को चलाना मुश्किल है। कठिनाई यह थी कि पास किये हुए भले आदमी के सांचे में लड़कों को ढालना निहायत जरूरी है ही, यह बात उन दिनों के बुजुर्ग लोग इतने जोर से नहीं सोचते थे। उन दिनों कालेजी विद्या के एक ही बेड़ा जाल में धनी गरीब सब को खींच ले आने का तकाज़ा नहीं था। हमारे कुल में उन दिनों धन नहीं था, लेकिन मान था, इस लिये यह कायदा टिक गया था। पढ़ाई-लिखाई की गरज इतनी चुश्त नहीं थी, ढीली-ढाली थी। एक बार छात्र-वृत्ति के नीचे

वाले क्लास से मुझे डिक्रूज़ साहब के बंगाल एकेडमी में चालान किया गया था। और कुछ हो या न हो पांच भले आदमियों में बैठने लायक अंग्रेजी रट लूंगा, अभिभावकों की यही आशा थी। लैटिन सीखने के क्लास में मैं गूंगा बहरा था। सभी तरह के एक्सेरसाइज़ बुक विधवा की साड़ी की तरह शुरू से अखीर तक सफेद ही सफेद रहा करते थे। न-पढ़ने के प्रति मेरी अजीब जिद देख कर क्लास के मास्टर ने डिक्रूज साहब के पास नालिश की थी। डिक्रूज साहब ने समझा दिया कि पढ़ाई लिखाई के लिये हम लोगों का जन्म नहीं हुआ है, हर महीने फीस चुका देने के लिये ही हमारा आना हुआ है। ज्ञानबाबू ने बहुत कुछ ऐसा ही निश्चय किया था। लेकिन इसी में इन्होंने एक रास्ता निकाल लिया था। मुझे शुरू से आखिर तक कुमार-संभव रटा दिया। घर में बंद करके मैकबेथ का अनुवाद करा लिया। इधर रामसर्वस्व पंडित महाशय ने शकुन्तला पढ़ा दी। इन्होंने मुझे क्लास की पढ़ाई के बाहर छोड़ दिया था, कुछ सफलता भी पाई थी। मेरे बचपन के मन की रचना में यही माल मसाला था और थीं कुछ जैसी-तैसी बंगला किताबें जिनका कोई चुनाव-विचार नहीं था।

विलायत जा पहुँचा, जीवन की रचना में विदेशी

कारीगरी शुरू हुई, जिसे केमिस्ट्री (रसायन शास्त्र) में यौगिक वस्तु की सृष्टि कहते हैं। इसमें भाग्य का खेल यह देख पाता हूं कि बाकायदा नियम-पूर्वक कुछ विद्या सीखने में लग गया ; कुछ कोशिश तो होने लगी पर अन्त तक कुछ हो नहीं सका। मझली बहू ठकुरानी वहीं थीं, उनके लड़के-बच्चे थे, उन्हींमें उलझा हुआ अपने ही घर के जाल में फंसा रहा। स्कूल की दुनिया के आसपास घूमता रहा हूं, घर पर मास्टरों ने भी पढ़ाया है, किन्तु सर्वत्र पढ़ने से भागता ही रहा हूं। जो कुछ पा सका हूं वह मनुष्य के आस-पास रहने का पावना है। नाना दिशा से मन के ऊपर विलायत की आबहवा का असर पड़ने लगा।

पालित साहब ने मुझे घर के बंधन से छुड़ा लिया। मैं एक डाक्टर के घर रहने लगा। उन्होंने भुलवा दिया कि विदेश आया हूं। मुझे मिसेज़ स्काट जैसा स्नेह करती थीं वह एक दम विशुद्ध और अकृत्रिम था। मेरे लिये उनके मन में माता के समान चिन्ता रहती थी। उन दिनों मैं लंडन युनिवर्सिटी में भरती हुआ था, अंग्रेजी साहित्य हेनरी मार्लि पढ़ाया करते थे। वह पढ़ाई जाने वाली किताब से रफ्तनी किया हुआ सूखा माल नहीं था। साहित्य उनके मन में और गले की आवाज़ में प्राणवान हो उठता और हमारे उस मर्मस्थल तक पहुंच

जाता जहाँ प्राण अपनी ख़ूराक चाहता है, बीच में रस में का कुछ भी नुकसान नहीं होता था। घर आ कर क्लैरेण्डन प्रेसकी पुस्तकों से पढ़ने का विषय उलट-पुलट कर समझ लेता अर्थात् अब अपनी मास्टरी करने का काम स्वयं ले लिया था। रह रह कर नाहक ही मिसेज़-स्काट सोचतीं कि मेरा मुंह सूख गया है। व्याकुल हो उठतीं। वे नहीं जानती थीं कि बचपन से ही मेरे शरीर में बीमारी के घुसने का दरवाज़ा बंद था। प्रतिदिन सबेरे गले हुए बर्फ के जल से स्नान किया करता। उन दिनों की डाक्टरी के मतानुसार इस प्रकार अनियम-पूर्वक जीवित रहना मानों शास्त्र की उपेक्षा करके चलना था।

मैं युनिवर्सिटी में सिर्फ तीन महीने पढ़ सका था। लेकिन मेरी विदेश की शिक्षा का प्रायः सारा-का-सारा मनुष्य की छूत से आया था। जो हमारे मूर्तिकार हैं वे सुयोग पाते ही अपनी रचना में नया नया मसाला मिला देते हैं। तीन महीने तक अंग्रेजों के हृदय के नजदीक रहने से यह मिलावट संभव हुई थी। मेरे ऊपर यह भार दिया गया था कि रोज़ शाम से लेकर रात ग्यारह बजे तक बारी-बारी से काव्य नाटक इतिहास पढ़ कर सुनाऊं। उस थोड़े समय में ही बहुत-कुछ पढ़ाई हो गई थी। यह क्लास की पढ़ाई नहीं थी।

यह साहित्य के साथ मनुष्य के मन का मिलन था। विलायत गया, पर बैरिष्टर नहीं बना। जीवन के शुरू के फ्रेम को हिला देने लायक धक्का मुझे नहीं लगा। पूर्व और पश्चिम की मैत्री अपने में स्वीकार कर सका। अपने नाम का अर्थ मैं ने प्राणों में पाया है।
